मीडिया इतिहास और हाशिये के लोग



अजय कुमार सिंह

मीडिया का व्यवस्थित अध्ययन अपेक्षाकृत काफी नया मामला है, बावजूद इसके हम बीसवीं सदी के लगभग तमाम समाजशास्त्रीय विमर्शों में मीडिया पर की गई अभिव्यक्तियों को देखते हैं। मीडिया की चारित्रिक विशेषता पर चर्चा बीसवीं सदी के कई बड़े समाजशास्त्रियों ने की है। इन अध्ययनों में इसको कई बार सम्प्रेषण के साधनों के तौर पर व्याख्यायित करने की कोशिश की गई तो कई बार उन्होंने इसे ही विमर्श का औजार समझा।

मीडिया विमर्श की इस कोशिश में इसकी संरचना और तकनीक को व्यापक तौर पर पकड़ने की कोशिश की गई है। इस अध्ययन का दायरा बीसवीं सदी के उत्तरार्ध से 21वीं सदी के शुरुआत तक का है। इस पुस्तक में हाशिये के लोगों के संदर्भ में मीडिया की प्रकृति को समझने का प्रयास किया गया है। पुस्तक के दो मुख्य हिस्से हैं। पहले हिस्से में विभिन्न घटनाओं के जरिये मीडिया की प्रकृति का रेखांकन किया गया है। यह हिस्सा मुख्य तौर पर उत्तर–औपनिवेशिक काल में हाशिये के लोगों और भारतीय मीडिया के बीच के सम्बन्ध पर आधारित है। दूसरे हिस्से में एक घटना– इतिहास की पाठ्यपुस्तकों पर हुए विवाद पर मीडिया द्वारा अपनाये गये रवैये का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

उल्लेखनीय है कि इस पुस्तक की पांडुलिपि को भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय द्वारा वर्ष 2001 के प्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पुरस्कार द्वारा पुरस्कृत भी किया जा चुका है। मीडिया के पाठकों को भी यह पुस्तक अवश्य ही आकर्षित करेगी।

मीडिया, इतिहास और हाशिये के लोग

मीडिया इतिहास और हाशिये के लोग

अजय कुमार सिंह

आधार प्रकाशन
पंचकूला

ISBN : 81-7675-191-X

मूल्य	:	150 रुपये
सर्वाधिकार	:	अजय कुमार सिंह
प्रथम संस्करण	:	2007
प्रकाशक	:	आधार प्रकाशन प्रा. लि. एस.सी.एफ. 267, सेक्टर-16 पंचकूला-134 113 (हरियाणा) ई-मेल : aadhar_prakashan@yahoo.com
आवरण	:	प्रियंका
मुद्रक	:	बी.के. आफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली

Media, Itihas Aur Hashiye Ke Log
by Ajay Kumar Singh Price : Rs. 150.00

यह पुस्तक समर्पित है उन सभी लोगों को
जो इस खूबसूरत दुनिया के हाशिये पर ही सही
लेकिन जीने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

आभार

पुस्तक का लिखा जाना कभी भी व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं हो सकती। हर विचार के लिए जाने का एक खास दौर होता है जो समकालीन द्वंद्व, तकलीफों और राजनीति की उपज होता है। इस पुस्तक की रचना भी इन्हीं प्रक्रियाओं के मध्य हुई। 1990 के बाद यह प्रवृत्ति बड़े पैमाने पर दिखी कि व्यक्तिगत और वर्गीय आकांक्षाओं को सार्वभौमिक तकलीफ बताया गया। यह एक राजनीति थी- हाशिये के लोगों के विरुद्ध। मीडिया को इसका साधन बनाया गया, इस पुस्तक के परिप्रेक्ष्य में यही स्थिति रही है।

इस विचार को गढ़ने में कई लोगों का योगदान रहा है जिनका समूचे तौर पर जिक्र करना संभव नहीं है। गया के बसस्टैण्ड पर किताबों की एक दुकान, वहां गोर्की, दोस्तोवोस्की, टॉलस्टाय से मिला। नवभारत टाइम्स के राजेन्द्र माथुर और शरद जोशी किशोरावस्था के दौरान मेरे विचार को नियमित तौर से गढ़ते रहे। मैं उनसे मिल पाता, उससे पहले वे प्रस्थान कर गए। इस दास्तां के पात्रों की फेहरिस्त काफी लम्बी है। वर्ष 1996-98 में जहांगीर पुरी के बच्चों के साथ काम करते हुए मुझे लिखने मात्र की जरूरत का सघनता से एहसास हुआ। सोचने और लिखने के बीच का निर्णायक फासला इन बच्चों ने तय कराया।

इस पुस्तक को इस रूप तक पहुंचाने में मो. अब्दुल खालिक, विजेन्द्र, राकेश और प्रदीप का विशेष सहयोग रहा। मैं आभार व्यक्त करना चाहूंगा, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार का जिसने इस पुस्तक पाण्डुलिपि को वर्ष 2001 के प्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पुरस्कार के लिए चुना। उस पाण्डुलिपि में कुछ अपेक्षित सुधार के बाद इस पुस्तक को प्रकाशित किया गया है।

अजय कुमार सिंह

अनुक्रम

भूमिका

मीडिया–विमर्श ज़ाहिर तौर पर अध्ययन की कोई 'विकसित' शाखा नहीं है। इसके अपने फायदे और घाटे दोनों हैं। एक ओर जहां हम बने–बनाये ढांचों में फंसने से बचते हैं वहीं दूसरी ओर इसका घाटा यह होता है कि हमारा अपना विमर्श परिवर्तन की किसी ऐतिहासिक कोशिश से नहीं जुड़ पाता। बीसवीं सदी के आखिरी और 21वीं सदी के शुरुआत में मीडिया का विस्तार जिस तेज़ी से हुआ है उसमें इसकी गुंजाइश बड़े पैमाने पर पैदा हुई है कि मीडिया के विमर्श को एक व्यवस्थित और व्यापक आधार दिया जाये। लेकिन इससे पहले यह तय कर लेना ज़रूरी है कि मीडिया के स्वरूप को ठीक–ठीक किस तरह समझा जाये। यह एक संस्था है, प्रक्रिया है, परिघटना है, बाजार की गतिविधि है, सम्प्रेषण की कोई तकनीक है, या फिर कोई और सामाजिक अवस्था?

मीडिया पर विमर्श करने की पहली और सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि इसे जिस प्रक्रिया के बीच में सम्पन्न किया जाता है उस पूरी की पूरी प्रक्रिया मात्र में मीडिया का आन्तरिक हस्तक्षेप इतना ज़्यादा होता है कि विमर्श की कोई निरपेक्ष स्थिति पूरी तरह विकसित नहीं हो पाती। मीडिया पर विमर्श करने के लिए जिस तरह के प्रशिक्षण और वातावरण की आवश्यकता है उसके न बनने के अपने ऐतिहासिक कारण रहे हैं। दूसरी दिक़्क़त यह रही है कि हम मीडिया को समाजशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र जैसे पहले से ही मानकीकृत विषयों और इनकी शब्दावलियों के ज़रिये समझना चाहते हैं। यह बात इस हद तक तो ठीक है कि मीडिया का सरोकार भी बड़े पैमाने पर समाज से रहा है बावजूद इसके मीडिया मात्र की प्रकृति को समाजशास्त्र या मानविकी के अन्य विषयों के द्वारा निर्धारित शब्दावलियों की रोशनी में समझना काफी मुश्किल है। इसे समझने के लिए पुरानी शब्दावलियों के साथ–साथ हमे कई नयी शब्दावलियां भी गढ़नी होंगी जो मीडिया की प्रकृति और उसकी गति को समेट सकें।

मीडिया का व्यवस्थित अध्ययन अपेक्षाकृत काफी नया मामला है। बावजूद इसके हम बीसवीं सदी के लगभग तमाम समाजशास्त्रीय विमर्शों में

मीड़िया पर की गयी अभिव्यक्तियों को देखते हैं। ख़ास तौर से इस सदी के उत्तरार्ध में न सिर्फ मीडिया का चरित्र तेज़ी से बदला और इसका प्रभाव क्षेत्र बढ़ा, बल्कि इसके अध्ययन की कई शाखायें भी खुलीं। प्रशिक्षु मीडियाकर्मियों के लिए बनाई गई जनसंचार की संस्थाओं ने अपने संस्थाई विकास क्रम में ही मीडिया के ऐतिहासिक विकास और सामाजिक पड़ताल को अपना हिस्सा बना लिया। चूंकि ये संस्थायें मूल तौर पर मीडियाकर्मियों के प्रशिक्षण के लिए खोली गयी थीं इसलिए इनके विमर्श का दायरा, प्रशिक्षण और व्यावसायिकता की सीमाओं को कभी भी लांघ नहीं पाया। इनका उद्देश्य महज़ इतना था कि वे अपने प्रशिक्षण कार्यक्रमों को एक सैद्धांतिक आधार प्रदान कर सकें और मीडिया से जुड़ी गतिविधियों को एक व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझा सकें।

अलग–अलग तरह के अध्ययन की शाखाओं का निर्माण 'विषय' के रूप में करने की परम्परा ने ज्ञान को चाहे कितना ही समृद्ध क्यों न किया हो लेकिन इस प्रक्रिया विशेष ने विमर्श की कोशिशों को न सिर्फ एक तयशुदा ढांचे में बांधा, बल्कि वह स्थितियां भी पैदा कीं जिन्होंने इन ढांचों को ही मानकीकृत विमर्श की उपाधियां दे डालीं। अध्ययन के अलग–अलग ये ढांचे सिर्फ अपनी अन्तिरिक प्रकृति से ही प्रभावित नहीं हुए बल्कि अन्य विषयों के ढांचों ने भी इन्हें पुरज़ोर तरीके से प्रभावित किया। विषय के आरम्भिक शिल्पकारों ने इन महलों के जिन नक्शों का निर्माण किया उससे अलग हट कर ये 'विषय' अपनी अट्टालिका खड़ी नहीं कर सके। इस विडम्बना का उदाहरण हम तब देख सकते हैं जब मानविकी और साहित्य जैसे विषयों को कोई अध्येता विज्ञान और गणित जैसे विषयों के बरक्स रखता है। प्रत्येक विषय अपनी एक प्रकृति विशेष के संदर्भ के साथ बढ़ता है और अपनी तर्कविधि का निर्माण भी करता है। इसलिए जब हम विमर्श के रुख़ को मीडिया के संदर्भ में व्याख्यायित करने की सोच रहे होंगे तब यह सावधानी विशेष तौर से बरतनी होगी कि इसका अध्ययन कैसे करें?

मीडिया की चारित्रिक विशेषता पर चर्चा बीसवीं सदी के कई बड़े समाजशास्त्रियों ने की है। इन अध्ययनों में इसको कई बार सम्प्रेषण के साधनों के तौर पर व्याख्यायित करने की कोशिश की गयी, तो कई बार उन्होंने इसे ही विमर्श का औजार समझा। मीडिया की चर्चा बार–बार एक बड़े सत्ता–तंत्र की उप–व्यवस्था के रूप में भी करने की कोशिश दिखी। जहां अन्य विषयों का अध्ययन उस विषय विशेष की चेतना को केन्द्र में रखकर किया जाता रहा वहीं मीडिया के अध्ययन में इसकी अपनी विषयगत

चेतना का बार–बार अभाव दिखा। बहुधा इसे अन्य सत्ता तंत्रों के परिप्रेक्ष्य में जांचने की कोशिश की गयी। अधिकांश मामलों में अपवादों को ही सर्वव्यापक नियम मान लिया गया। इस बात का आकलन आज की तारीख में ठीक–ठीक लगाना काफी मुश्किल है कि मीडिया को पहले से तयशुदा ज्ञान के खांचों के संदर्भ में ही जाना–समझा जाये या फिर इसके अध्ययन की विधा में किसी अन्य प्रक्रिया का सहयोग लिया जाये।

मीडिया को राष्ट्र, राज्य, बाज़ार या फिर किसी अन्य संस्था की उप–व्यवस्था मान लेने में काफी दिक्कतें हैं। क्योंकि ऐसी स्थिति में हम सैद्धान्तिक तौर पर इस बात की सहमति दे रहे होंगे कि किसी निकाय या प्रक्रिया विशेष को उसकी प्रकृति से अलग हट कर नियंत्रित किया जा सकता है। ऐतिहासिक तौर पर हम इस सच्चाई से बार–बार टकराते हैं कि किसी भी सामाजिक अवस्था की उपस्थिति एक ओर अपने पीछे अतीत के कई अवयवों को समेटे रहती है तो वहीं दूसरी ओर भविष्य की कई इमारतों की नींव इसी सामाजिक अवस्था पर टिकी होती है। बहुधा हमारे विमर्श की कोशिश किसी भी सामाजिक अवस्था को अपने 'इरादे' के संदर्भ में समझने को प्रेरित करती है। यहां फिर से इस बात पर गौर किया जाना ज़रूरी है कि विमर्श की सम्पूर्णता का दावा एक अबोधता है और उसे हम कुछ विशेष धुरी–बिन्दुओं के संदर्भ में ही समझते हैं और किसी भी अध्येयता का 'इरादा' मात्र एक धुरी–बिन्दु है। चूंकि प्रत्येक विमर्श में हम थोड़े से ही आयामों का चयन करते हैं इसलिए बड़ी मात्रा में कई पक्षों का निषेध करना होता है, या यूं कहें कि विमर्श की सम्पूर्णता एक बेमानी बात है जबकि इसका 'इरादा' महत्त्वपूर्ण है कि हम किन आयामों का चयन कर रहे हैं और किन्हें छोड़ रहे हैं।

मीडिया विमर्श की इस कोशिश में इसकी संरचना और तकनीक को व्यापक तौर पर पकड़ने की कोशिश की गयी है। प्रजनन की क्षमता सिर्फ जैविक प्रणाली में ही नहीं होती है। 'अमूर्त' और 'निर्जीव' सामाजिक प्रक्रियाएं भी अपने आपको पुनःउत्पादित करती हैं या फिर नये रूपों में प्रकट होती हैं। जैसा कि हमने पहले ज़िक्र किया है कि मीडिया की प्रकृति इस बात से गहरे तौर पर जुड़ती है कि उसके आरम्भिक वास्तुशिल्पियों ने जिस महल का नक्शा तैयार किया, वह क्या था। क्योंकि बाद के दिनों में आरम्भिक नक्शे की बुनियाद में कोई बदलाव नहीं आया। केवल उसकी तकनीक और तरीके बदले। तकनीक का मामला फिर से एक बार पुनरुत्पादन की प्रक्रिया से जुड़ता है। आगे के अध्ययन में हम देखेंगे कि मीडिया के

विकास में जिन बाह्य संरचनाओं ने सहयोग दिया वे भी उन्हीं व्यापक सामाजिक जड़ता के शिकार थे, जिसकी मीडिया स्वयं भी है। इन संरचनाओं ने अपने आपको सिर्फ पुनःउत्पादित ही नहीं किया बल्कि मानकीकरण के माध्यम से वे ऐसा 'सामाजिक दबाव' बनाने में कामयाब रहीं कि अन्य छोटी व हाशिये की संरचनाओं को विकसित होने से पहले ही दम तोड़ देना पड़ा।

इस अध्ययन में हाशिये के लोगों का जिक्र बार–बार आया है इसके बावजूद हम ये दावा नहीं कर रहे हैं कि इस वर्ग के संदर्भ में हमारी अपनी स्थिति बहुत साफ है। वर्चस्व का इतिहास उतना ही पुराना है जितना जीव मात्र का। वर्चस्व की इस लड़ाई में हमेशा से ही ऐसा होता आया है कि एक वर्ग सत्ता के केन्द्र में आया है तो दूसरा हाशिये पर ढकेल दिया गया है। सामाजिक संरचनाओं पर गौर करें तो हमें वे संरचनायें बड़ी आसानी से दिख जाती हैं जो किसी वर्ग विशेष को हाशिये की ओर ढकेलती हैं। इन वर्गों की उपेक्षा और उत्पीड़न का एक बड़ा कारण सामाजिक राजनीति तो होती ही है उससे भी ज़्यादा इसका सरोकार इस बात से होता है कि वे वर्ग विशेष अपने आप को किस संदर्भ में और किन तरीकों के साथ अभिव्यक्त करते हैं। 'हाशिये के लोग' का इस अध्ययन में व्यापक मतलब उस वर्ग से है जिसकी उपस्थिति समाज में महज इसलिए होती है जिससे एक वर्चस्वशाली तबके को ज़्यादा सुख–सम्पन्न बनाया जा सके। रोम साम्राज्य में गुलाम हुआ करते थे, अमेरिका में 'रेड इंडियन' और 'काले', और भारतीय समाज में 'शूद्र' – यह सूची काफी लम्बी है। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में बात करें तो पाते हैं कि महिलायें, बच्चे, जाति, चमड़ी के रंग पर वंचित किया गया समूह, विकलांग, भाषाई अल्पसंख्यक जैसी न जाने कितनी ही संज्ञायें हैं जो उत्पीड़न का एक मुकम्मल इतिहास समेटे हुए हैं।

हाशिये के लोगों के संदर्भ में उत्पीड़न की अवस्था को समझने के लिए हमारे पास जो विमर्श की तकनीक है वह पर्याप्त नहीं है। यह तकनीक 'सामाजिक जड़ता' से पूरी तरह नियंत्रित होती है। मामला सिर्फ इतना नहीं है कि विमर्श के इस अधूरेपन को समझने के लिए हमारे पास पर्याप्त अवसर हैं या नहीं, सवाल यह भी है कि हम उन अवसरों को मुहैया कराने की कोशिश भी कर रहे हैं या नहीं। 'सामाजिक जड़ता' से हटने का मसला अकादमिक निरपेक्षता की ज़रूरत है। यह एक वैचारिक साहस की मांग करता है जहां हम ऐतिहासिक तौर पर महिमामंडित की गयी शब्दावलियों से अलग हट कर और हाशिये के लोगों को केन्द्र में रखकर विमर्श कर सकें। 'गरीबी' और 'बेरोज़गारी' जैसे शब्द उपेक्षा और उत्पीड़न की अभिव्यक्तियां

नहीं हैं, बल्कि ये उस क्रूर राजनीति को ढकने के लिए बनायी गयी वर्चस्ववादी शब्दावलियां हैं जो समाज के एक बड़े वर्ग को उनकी इच्छा के विरुद्ध एक खास जीवनशैली अपनाने को बाध्य करती हैं। एक बार फिर वंचना को व्यक्त करने वाले शब्दों से उसकी जीवंतता को छीनने का काम उस मिले–जुले प्रयास ने किया जो नब्बे के दशक में शुरू हुआ। बाज़ार नाम की संस्था में एक बड़ी विकृति पैदा की गयी और 'प्रायोजित बाज़ार' को खड़ा किया गया। 'प्रायोजित बाज़ार' नाम की यह बाज़ारू विकृति 'बाज़ार' पर हावी होती चली गयी। यही वह दौर है जब हमें वैचारिक जगत में एक अभूतपूर्व हलचल दिखाई पड़ती है। इस वैचारिक बाढ़ में तबाही तो काफी हुई है और हो रही है लेकिन इसके चले जाने के बाद जो मिट्टी बची रहेगी वह विमर्श के लिए काफी उपजाऊ ज़मीन होगी।

इस अध्ययन का दायरा बीसवीं सदी के उत्तरार्ध से 21वीं सदी के शुरुआत तक का है। कुछ अध्येता इस दौर को उत्तर–औपनिवेशिक दौर के रूप में रेखांकित करते हैं। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक स्थितियों में बड़ी तेजी से बदलाव आया। एक तरफ जहां साइबर दुनिया का दबाव काम कर रहा था वहीं दूसरी ओर 'वैश्वीकरण' और 'भूमंडलीकरण' की प्रक्रिया अपनी पूरी तेजी के साथ बढ़ रही थी। इन स्थितियों का मीडिया के 'विकास' संदर्भ में खासा महत्त्व है। विश्व के एक–ध्रुवीय होने की प्रक्रिया ने इसको सबसे ज्यादा प्रभावित किया। संक्रमण का काल 'उत्पादन' और 'रचना' की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ काल होता है। यह प्रकृति का नियम है। विश्व भर में संक्रमण की जो स्थिति बनी उसने तमाम सार्वजनिक संरचनाओं को प्रभावित किया। मीडिया भी इससे प्रभावित हुआ।

इन वर्षों में होने वाले बड़े राजनैतिक और सामाजिक बदलावों का असर विमर्श की प्रक्रिया पर तो पड़ा ही, उससे भी ज्यादा विमर्श की प्रकृति पर पड़ा। इसी दौर में ऐसे अकादमिक प्रयास होने शुरू हो गये कि विमर्श की प्रकृति को और ज्यादा सटीक तरीके से समझा जाये ताकि इसकी तकनीक का विकास एक व्यवस्थित प्रक्रिया के तहत किया जा सके। विश्वव्यापी स्तर पर जो उपनिवेश आजाद हुए उन्होंने अपनी आजादी के उत्सव के साथ अपने को अभिव्यक्त करने के रास्तों की तलाश का काम शुरू किया तो वहीं दूसरी ओर पुराने 'शासकों' को यह बात पचानी काफी नागवार गुजरी कि वे कल के दासों को अपने समकक्ष बैठने दें। दोनों ही वर्गों की कार्यस्थली विचारों की जमीन ही बनी और हथियार बना 'विमर्श की तकनीक'।

इस वैचारिक बदलाव से विज्ञान भी अछूता नहीं रहा। उसकी शक्तियां इन सामाजिक मांगों को पूरा करने के लिए जुट गयीं। यहां पर यह स्पष्ट कर देना उचित है कि 'सूचना क्रान्ति' को हम एक बाज़ारवादी हलचल बेशक करार दें लेकिन यह काफी हद तक एक राजनैतिक प्रक्रिया का हिस्सा रही है। यही वह समय था जब 'राष्ट्र–राज्य' और 'बाजार' की टकराहट शीत युद्ध के खात्मे के साथ खत्म हुई और राष्ट्र–राज्य अपने को बचाये रखने के लिए काफी हद तक बाज़ार की प्रक्रियाओं के मोहताज बन गये। इसी समय मीडिया के स्वरूप को इस तरह से बदला गया कि वह 'बाज़ार' के पहरेदार की तरह हर समय हर जगह मौजूद हो। बावजूद इसके अपनी ऐतिहासिक प्रकृति की वजह से मीडिया पूरी तरह से बाज़ार के नियंत्रण में नहीं आया।

इस पुस्तक की रूपरेखा

यहां हाशिये के लोगों के संदर्भ में मीडिया की प्रकृति को समझने का प्रयास किया गया है। पुस्तक के दो मुख्य हिस्से हैं। पहले हिस्से में विभिन्न घटनाओं के जरिये मीडिया की प्रकृति का रेखांकन किया गया है। यह हिस्सा मुख्य तौर पर उत्तर–औपनिवेशिक काल में हाशिए के लोगों और भारतीय मीडिया के बीच के सम्बन्ध पर आधारित है। दूसरे हिस्से में एक घटना– पाठ्यपुस्तक़ों (इतिहास की) पर विवाद का और इस संदर्भ में मीडिया द्वारा अपनाये गये रवैये का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। भाग एक में सबसे पहले सामाजिक जड़त्व और सम्प्रेषण के प्रजननवाद का विवरण दिया गया है। मूल तर्क यह है कि तकनीक का विकास मुख्य तौर पर सामाजिक जड़त्व में ही होता रहा है और नई तकनीकें वे सब कुछ सम्प्रेषित करने के लिए बाह्य होती हैं जिसका निर्धारण वर्चस्वशाली सामाजिक जड़त्व से होता है। यही हाल 'विमर्श की तकनीक' का भी है। विमर्श की मौजूदा तकनीकों के संदर्भ में बात करें तो पाते हैं कि सोचने के लिए बनाये गये तमाम औजारों और तरीकों का निर्माण पहले से तयशुदा खांचों के दायरे में ही सोचने को प्रेरित करता है। यह स्थिति विज्ञान, इतिहास, राजनीति विज्ञान जैसे विषयवार ब्यौरों में तो होती है ही लेकिन जब हम इन्हीं तकनीकों के माध्यम से मीडिया भी अपना काम करना शुरू करता है तो कई और तरह की दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। इसी हिस्से के दूसरे अध्याय में उन स्थितियों का जिक्र किया गया है जिनके

चलते एक खास तरह के वैचारिक सम्प्रेषण की आवश्यकता हुई और सम्प्रेषण के नये औजारों का विकास किया गया।

तीसरे अध्याय में अभिव्यक्ति की राजनीति पर चर्चा की गई है– खास तौर से मीडिया द्वारा गढ़े जाने वाले मिथकों की। मीडिया का अपना चरित्र इस कदर बिखरा हुआ और 'विकेन्द्रीकृत' है कि इसका कोई भी संस्थायी ढांचा सा बनता दिखाई नहीं पड़ता है। मशीनों, सम्प्रेषण के साधनों का उपयोग और उसकी बाजारू कीमत तय करने की प्रक्रिया इत्यादि अवयवों की वजह से कई बार इसे उपबाजार मान लेने को जी चाहता है। लेकिन मीडिया सिर्फ एक मूर्त तंत्र मात्र नहीं है। इनमें अमूर्त प्रक्रियाओं का भी उतना ही बोलबाला है। चौथा अध्याय मीडिया की रोजमर्रा की गतिविधियों और उसे प्रभावित करने वाली संस्थाओं (खासतौर से बाज़ार), संस्कृति और ऐतिहासिक स्थितियों के विवरण पर आधारित है। मीडिया और उसकी दैनिक गतिविधियों में शामिल किये गये घटनाक्रम का आपस में फर्क कर लेना बहुत जरूरी हो जाता है। यह फर्क हमें यह समझने में काफी मदद पहुंचायेगा कि जब किसी विषय का प्रवेश मीडिया के फलक (स्क्रीन) पर होता है तो उस विषय के साथ ठीक–ठीक क्या होता है।

विमर्श का अधूरापन इसकी अनिवार्य प्रकृति है लेकिन उसका इस्तेमाल उपेक्षा की एक बड़ी राजनीति के तौर पर करना– यह एक इरादा है जो कि अब मीडिया का आम चरित्र बन चुका है। मीडिया अपनी चारित्रिक बाध्यताओं की वजह से विमर्श को इस तरह रख पाने में लगातार असफल होता जा रहा है ताकि वह हाशिये के लोगों को भी अभिव्यक्त करे। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि मीडिया बहुधा किसी विवाद के समय उस विषय के पुरोधाओं के समक्ष एकदम से घुटने टेक देने की स्थिति में आ जाता है। विवाद पर विशेषज्ञों की राय ही मीडिया की राय बन जाती है। यह स्थिति हाशिये के लोगों के लिए काफी जटिल हो जाती है। वे एक बार फिर हाशिये से हाशियेतर की ओर बढ़ जाने को विवश हो जाते हैं। इसे समझने के लिए पुस्तक के दूसरे हिस्से में इतिहास के विवाद या पाठ्यपुस्तकों पर हुई बहस का विश्लेषण किया है।

इस सदी के शुरुआत में इतिहास को लेकर मीडिया में जो विवाद छाया रहा उसमें ऐसी प्रवृत्तियां पुरजोर तरीके से दिखीं कि मानो इतिहास के पंडितों की राय ही आखिरी राय हो। इस पूरे विवाद में मीडिया की जो स्थिति बनी उससे लगता है कि वह उन तबकों की आवाज को उठा पाने में लगातार असफल रही है जो स्वयं को अभिव्यक्त नहीं कर पाते हैं (यहां

इस संदर्भ में भारतीय बच्चे थे) या फिर समाज की सम्प्रेषण संरचनाओं में जिनकी अभिव्यक्ति को जगह नहीं मिल पाती है। एक विषय के तौर पर इतिहास का अध्ययन यह बताता है कि इतिहास लेखन को लेकर जो विवाद चला वह एक राजनैतिक विवाद था। दोनों ही पक्ष इतिहास के वृहत्तर सरोकार से अलग रहे। मीडिया द्वारा इस बात को भी परखने की कोई व्यापक कोशिश नहीं दिखी कि जिस परिघटना को हम इतिहास का विवाद कहते रहे हैं वह ठीक–ठीक क्या था?

जैसा कि पहले कहा गया कि मीडिया पर विमर्श करते समय एक ओर हमें उन संरचनाओं को पकड़ना होगा जो सम्प्रेषण का साधन बनती हैं तो दूसरी ओर विमर्श की उन तकनीकों को भी पकड़ना होगा जिसके जरिये मीडिया किसी समूह का पक्ष रखता या नहीं रखता है। इतिहास को लेकर जो विवाद चला, उसकी पड़ताल हमें इसकी गहरी जानकारी देता है। पुस्तक के दूसरे हिस्से में तीन अध्याय हैं। इसमें क्रमवार तरीके से तीन बातों को जानने की कोशिश की गई है– पहला कि विवाद का क्या कारण था और मीडिया ने उसे कैसे प्रस्तुत किया। दूसरी बात यह कि इतिहास लेखन का अपना विमर्श क्या है और इस दृष्टिकोण से देखने पर इस विवाद की रूपरेखा कैसी बनती है। तीसरी बात कि इतिहास का यह विवाद जिस बदलाव को लेकर हुआ उसके पहले बच्चे किस तरह के इतिहास को पढ़ते थे और इसका विवरण मीडिया में क्यों नहीं आया।

अतीत की घटनायें और वर्तमान का स्वरूप महज एक इत्तफाक नहीं है। इनके बनने की प्रक्रिया को जहां तक हम समझ पाते हैं वहां तक हमें इनमें तारतम्यता दिखाई पड़ती है। बहुधा ऐसा होता है कि हमारे संज्ञान क्षेत्र की पहुंच और विमर्श के औजारों की मारक क्षमता इतनी नहीं होती कि हम वर्तमान की प्रकृति के पीछे चल रही ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को पकड़ सकें। कई बार, नयी खोज हमें उन घटनाओं के स्वरूप और प्रकृति की तह तक पहुंचने में मदद करती है जिनके बारे में हम अपनी समझ अब तक नहीं बना पाये होते हैं। ऐसी स्थितियां न सिर्फ घटनाओं के विभिन्न ऐतिहासिक आयामों का खुलासा करती हैं बल्कि उससे आगे जाकर वह विराट समयबोध के बीच में अपनी स्थिति को और ज्यादा सटीक तौर पर समझाती हैं। मीडिया के संदर्भ में किया गया यह अध्ययन मानव की इसी स्थिति को समझने का एक प्रयास मात्र है।

भाग – एक

मीडिया और सम्प्रेषण का प्रजननवाद

मीडिया एक बड़ी तकनीक का छोटा हिस्सा है और कई छोटी–छोटी तकनीकों से बनी एक बड़ी तकनीक। 'तकनीक' शब्द का उच्चारण मात्र एक ऐसी दुनिया को सामने लाता है जहां हम कुछ तयशुदा इरादों के मध्य कार्य कर रहे होते हैं। समय और सामाजिक स्थिति के संदर्भ को ध्यान में रखते हुए तकनीक का सवाल एक निहायत पेचीदा सवाल है। तकनीक की आधारभूत परिभाषा क्या है और तकनीक को हम किस संचरना के मद्देनज़र समझना चाहते हैं– यह सब कुछ इस बात पर भी निर्भर करता है कि अन्ततः हमारा इरादा क्या है। यहां 'तकनीक' शब्द का प्रयोग एक व्यापक मायने में किया गया है। तकनीक की बात जहां एक ओर संयंत्रों के मूर्त ढांचे के संदर्भ में की गयी है तो वहीं उन सूक्ष्म सामाजिक संरचनाओं को भी बतौर तकनीक पकड़ने की कोशिश की गई है जो उसकी गतिकी को नियंत्रित करते हैं।

मीडिया एक ऐसा सामाजिक उपक्रम है जिसमें कई तरह की तकनीकें शामिल हैं। मीडिया की बात करते समय हमें यह ध्यान रखना होगा कि सम्प्रेषण एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जिसका काफी तेजी से पुनरुत्पादन और प्रकटीकरण होता है। इसमें मीडिया–तकनीक की पुरानी 'अवस्था' और नयी 'व्यवस्था' दोनों ही एक साथ काम कर रही होती हैं। यहां तकनीक का सवाल विज्ञान की अन्दरूनी प्रकृति से निकल कर उसके सामाजिक संदर्भों के परखे जाने की मांग करता है। लगे हाथ उस नयी तकनीक को टोहने की बात भी उठती है जो वर्षों से चली आ रही सम्प्रेषण की जड़ता को तोड़ सके।

सम्प्रेषण, वर्चस्व और तकनीक

मीडिया के संदर्भ में जब हम सम्प्रेषण की बात करते हैं तब इस बात का खासा महत्त्व हो जाता है कि हम इसके लिए किस तरह की 'तकनीक' का इस्तेमाल कर रहे हैं। तकनीक के मामले में एक बड़ा भ्रम यह है कि तकनीक का सवाल राजनीति से निरपेक्ष है। अव्वल तो तकनीक का विकास ही अपने आप में एक सत्तागत प्रश्न है, दूसरी बात यह कि जनसंचार के लिए जिन तकनीकों का विकास किया गया वे अपने शुरुआती इरादों के साथ ही राजनैतिक नींव पर खड़ी की गई थीं। राजनैतिक वर्चस्व स्थापित करने की जो कोशिशें (ज्यादातर) ऐतिहासिक तौर पर हुईं या होती रहीं, उनके शुरुआत में ही उस वर्ग विशेष को सम्प्रेषण के तमाम माध्यमों से अलग कर दिया जाता है जिस वर्ग पर नियंत्रण स्थापित करना होता है। इस पूरी प्रक्रिया में 'चेतना', 'ज्ञान' और सम्प्रेषण के साधन एक वृहत्तर समाज की जड़ता के तौर पर हमेशा ही मौजूद रहे हैं। इसे और विस्तार से समझने के लिए यह जरूरी है कि हम तकनीक के विस्तार और उससे जुड़ी हुई राजनीति पर एक नजर दौड़ायें।

दिल्ली की झोंपड़पट्टियों में आग लग जाना एक सालाना रूटीन है। इस रूटीन से उन झुग्गियों में रहने वाले समुदाय को छोड़कर अगर कोई सबसे ज्यादा वाकिफ़ हो सकता है तो वे हैं दिल्ली 'फायर–बिग्रेड' के लोग। उस लिहाज से दिल्ली–यमुना रास्ते पर बसी झुग्गियों में आग लग जाना कोई नयी घटना नहीं है। इस तरह की बस्तियों में आग के लगने से 21वीं सदी में जगह बनाने को बेताब भारतवर्ष के 'उच्च वर्ग' और 'महान मध्यवर्ग' की जीवनशैली पर कोई फर्क नहीं पड़ता है। हर बार आग से निपट पाने में असमर्थ फायर–ब्रिगेड के अधिकारी बड़ा चलताऊ–सा बयान देते हैं– 'हमारी गाड़ियां चौड़ी थीं और यमुना रास्ते पर बसी झुग्गियों की गलियां संकरी'। इसके बरक्स एक दूसरी सूचना को देखा जाये। कुछ अर्सा पहले दिल्ली में ही, कनॉट प्लेस के एक ऊंचे भवन में आग लगी। फायर–बिग्रेड उससे भी ढंग से निपट नहीं पाया। लेकिन उसके बाद बड़े पैमाने पर फायर–बिग्रेड ने अपनी तकनीक में सुधार किया– खास तौर से इस तरह कि ऊंचे भवनों में लगी आग से निपटा जा सके। मामला बड़ा साफ है, तकनीक का विकास हमेशा से ही समाज के ताकतवर वर्ग के हक में होता है। एक तरफ जहां ताकतवर वर्ग तकनीक को अपने लिए बनाता है तो वहीं

दूसरी ओर तकनीक पलट कर इस वर्ग विशेष को और ताकतवर बनाती है।

उपरोक्त उदाहरण को हम कुछ और विस्तार दें तो तकनीक और विज्ञान के फर्क और उसके सामाजिक मायने से ज्यादा परिचित हो पायेंगे। आग बुझाने के संयत्र में जो विज्ञान है वह, और आग बुझाने के संयंत्र की तकनीक, दोनों ही अलग–अलग हैं। विज्ञान का हमने इस्तेमाल किया तकनीक के विकास में। विज्ञान का सरोकार मानवीय समाज की जद्दोजहद और उसके ऐतिहासिक विकास से है, जबकि तकनीक का पूरा मामला विज्ञान के राजनैतिक इस्तेमाल से जुड़ता है। यह कहना एक तरह की जल्दबाजी होगी कि विज्ञान का विकास राजनीति से निरपेक्ष है। लेकिन यह बात तयशुदा तौर पर कही जा सकती है कि विज्ञान अपनी प्रकृति मात्र से ज्यादा राजनीति निरपेक्ष है, जबकि तकनीक के साथ ऐसा नहीं है। विज्ञान का इस्तेमाल करके किस तकनीक का विकास किया जाये, यह मामला हमेशा से एक तरह की राजनीति रही है।

यह बात सामान्य तौर पर देखी जा सकती है कि तकनीक का जुड़ाव या फिर रुझान हमेशा से ही समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग से रहा है। प्रभुत्व के इस ढांचे को अर्थ–तंत्र, शिक्षा–तंत्र तथा बाजार जैसी कई संस्थायें लगातार मजबूती देती रही हैं। यहां हम प्रभुत्वशाली वर्ग की पहचान लिंग, जाति, शारीरिक गठन (गैर–विकलांगता), वयस्कता, आर्थिक स्तर, रंग, व्यवसाय, भाषा जैसे कई मानकों के संदर्भ में की जा सकती है। तकनीक की राजनीति भी प्रभुत्व के इन्हीं मानकों के संदर्भ में कर सकते हैं। मसलन, बाजार में बिकने वाली अधिकांश दवाओं के ऊपर लिखा होता है बच्चे के लिए 'आधी गोली' क्योंकि, इन दवाओं का विकास एक वयस्क शरीर को ध्यान में रखकर किया जाता है। दवा निर्माण और चिकित्सा पद्धति की अपनी संरचना यह लगभग सुनिश्चित कर देती है कि महिला या बच्चों के लिए सामान्य चिकित्सा प्रणाली नहीं रहेगी बल्कि वह एक विशेष प्रणाली रहेगी। प्रचलित गर्भ निरोधकों पर एक नजर दौड़ायें तो प्रथम दृष्टि में ही यह आभास मिलने लगता है कि इन गर्भ निरोधकों का जो भी बुरा असर पड़ता है या पड़ सकता है वह महिला को ही उठाना पड़ता है। 'कॉपर टी' तकनीक का एक ऐसा ही वीभत्स रूप है।

अकेले दिल्ली शहर मात्र में दो लाख से ज्यादा रिक्शे चलते हैं। रिक्शा बनाने की तकनीक में एक जानदार बदलाव की वकालत, 1993–94 के दौरान विज्ञान को लेकर चलाये गये एक आन्दोलन 'भारत ज्ञान–विज्ञान

जत्था' में की गयी और गियर वाले रिक्शे की तकनीक सुझाई गयी। लेकिन यह तकनीक प्रचलित नहीं हो पायी। तब से अब तक दिल्ली की ही सड़कों पर कार की तकनीक में जबरदस्त इज़ाफ़ा हो गया। इस पूरे प्रकरण की ऐतिहासिक तारतम्यता पर ग़ौर करें तो पता चलता है कि धीरे-धीरे हमने समाज की संरचना ही ऐसी बना डाली है कि तकनीक का विकास एक निहायत अभिजात्यवादी अवधारणा बनकर रह गयी है। अपनी कहानी 'पंचलाईट' में हिन्दी कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु ने 'तकनीक' और 'जाति' के अन्तर्द्वन्द्व की बात की है। इस कहानी में रेणु बताते हैं कि आखिर यह क्योंकर होता है कि एक जाति-विशेष के लोगों को पंचलाईट जलाने में एक भयंकर जद्दोजहद करनी पड़ती है जबकि दूसरी जाति के लोग पंचलाईट जलाकर विशिष्ट श्रेष्ठता से भर जाते हैं।

तकनीक की इस राजनीति को जब हम मीडिया के संदर्भ में परखते हैं तो पाते हैं कि सम्प्रेषण तकनीक के विकास में जो कसरत की गयी, उसने धीरे-धीरे उन तमाम लोगों को मीडिया और उसकी गतिविधियों के केन्द्र से बाहर ढकेल दिया जो राजनैतिक तौर पर अपनी उपस्थिति को बनाये नहीं रख सके। बडा प्रेस, बड़े चैनल – ये सब के सब सिर्फ अर्थतंत्र से जुड़े मामले नहीं हैं। इसकी गहराई में वह राजनीति छुपी है जो हाशिये के तबके और वर्चस्वशाली तबके के बीच लगातार चलती रहती है। इंटरनेट का विकास, ऐसा ही एक तकनीकी विकास है। दुनिया भर के डेढ़ सौ से भी अधिक देशों के लाखों कम्प्यूटर इससे जुड़े हुए हैं। इस माध्यम में सूचना देने या लेने के लिए आपके पास न्यूनतम एक कम्प्यूटर होना चाहिए। उत्तर भारत के संदर्भ में बात करें तो आपकी भाषा अंग्रेजी, बहुत हुआ तो मानकीकृत हिन्दी होनी चाहिए। इस तरह पूरी दुनिया का बीस प्रतिशत हिस्सा (अधिकतम) जो इस तरह के नेट जाल से जुड़ा है वह दुनिया भर के सूचना संसाधनों का इस्तेमाल, बचे हुए अस्सी प्रतिशत लोगों को एक तरफ रखकर कर सकता है। दूसरी ओर नेट पर सूचनाओं को रखे जाने की तकनीक यह सुनिश्चित करती है कि आने वाले समय में किस तरह की सूचनाओं से यह 'नेट' संसार बचे हुए वर्ग पर अपना वर्चस्व बतायेगा।

इन परिस्थितियों में दक्षिण अफ्रीका के खान में काम करने वाला मजदूर, बिहार की भोजपुरी बोलने वाली कृषक महिला, ईराक पर अमरीकी बमबारी से अपाहिज हो चुका बच्चा और ऐसे ही तमाम लोग किसी भी तरह से अपने को और अपनी भावनाओं को इस तरह या फिर किसी और तरह

की तकनीक से नहीं जोड़ पाते हैं। नतीजा यह होता है कि तकनीक के जरिये एक छोटा–सा वर्चस्वशाली तबका आपस में बड़े सक्रिय ढंग से जुड़ जाता है और अपेक्षाकृत काफी बड़े तबके पर शासन करता है। कई बार इस पूरे मामले को हम महज अर्थतंत्र से जोड़ देते हैं, मगर यह मामला सिर्फ आर्थिक नहीं है। एक दृष्टि–विकलांग व्यक्ति के लिए इस तरह की सम्प्रेषण –तकनीक का विकास एक उपहास मात्र है। इंटरनेट पर महिलाओं की भागीदारी के नाम पर ज्यादातर 'रंगीन' तस्वीरें होती हैं। इस तरह से सम्प्रेषण की तकनीक का विकास एक राजनैतिक मामला तो है ही, साथ ही यह भी उन्हीं सामाजिक प्रक्रियाओं के मध्य पनपता है जो वर्चस्व को स्थापित करने और बनाये रखने के लिए चलाई जाती हैं। 'तकनीक' का ऐसा विकास वर्चस्व स्थापित करने की कोशिशें शुरू करता है और इसका 'मानकीकरण' इसको स्थापित करता है।

सम्प्रेषण–तकनीक का मानकीकरण

सम्प्रेषण–तकनीक की बात करते समय जिन तस्वीरों और प्रतीकों का ढांचा बनता है वह मशीनी जगत से काफी ज्यादा जुड़ा होता है। इसलिए यह बात यहां कहने की जरूरत महसूस हो रही है कि इस तकनीक का मामला सिर्फ मशीन से ही नहीं जुड़ा हुआ है। सम्प्रेषण–तकनीक क्या होती है?– यह बहस एक अलग जगह की मांग करती है पर इतना तो तय है कि इसका जुड़ाव उन तमाम प्रक्रियाओं से होता है जिसके मार्फत हम एक विशिष्ट उद्देश्य का ढांचा तैयार करते हैं। मसलन अगर सिनेमा उद्योग की बात करें तो एक तरफ अगर कैमरा, रील, एडीटिंग की मशीन इत्यादि तकनीक का हिस्सा हैं तो दूसरी ओर पटकथा लेखन, उसके विषयवस्तु का चुनाव इत्यादि एक दूसरी तरह की तकनीक हैं। पर दोनों का ही पूरा जोर इस बात पर होता है कि फिल्म को अधिक से अधिक प्रभावशाली और आकर्षक बनाया जाये। यहां फिल्म का आकर्षक और लोक लुभावन बनाना एक लक्ष्य है, जिसे पाने के लिए हम निरन्तर अपनी 'तकनीक' का विकास कर रहे होते हैं। ऐसी स्थिति में सबसे ज्यादा 'सक्षम' तकनीक उसे माना जाता है जिसके जरिये हम अपने ढांचागत 'लक्ष्य' को ज्यादा तेजी से प्राप्त कर

सकते हैं। इस बात का कोई विशेष मतलब नहीं रह जाता कि आपकी अपनी तकनीक एक वृहत्तर सामाजिक ढांचे से कितना तालमेल बिठा पाती है। फिल्म उद्योग को इस बात से कोई विशेष सरोकार नहीं कि वे अपनी फिल्मों से पड़ने वाले असर को भी अपने जेहन मे रखें।

इस उदाहरण को अगर हम एक सर्वमानकीकृत आवरण पहनायें तो पता चलता है कि तकनीक का विकास सामाजिकता के स्तर पर अपेक्षाकृत एक छोटे उद्देश्य और छोटे वर्ग के संदर्भ में किया जाता है। तकनीक की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह समाज के कितने बड़े वर्ग पर अपनी पकड़ बना पाती है। मसलन 'कैमरे' की तकनीक समाज के एक बड़े तबके को उपलब्ध है, कम से कम बतौर दर्शक तो है ही। लेकिन यह तकनीक किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए 'कम' महत्त्वपूर्ण हो जाती है जो दृष्टि–विकलांगता का शिकार हो। एक तरफ जहां वह स्वतंत्र रूप से इसका इस्तेमाल नहीं कर पाता है, वहीं दूसरी ओर उसे किसी भी ऐसे सम्प्रेषण को समझने के लिए, जिसमें फोटोग्राफी का इस्तेमाल किया गया हो, एक ऐसे व्यक्ति के सहारे की जरूरत पड़ती है जो 'दृष्टि–सम्पन्न' होता है। कुल मिलाकर हमारा तर्क यह है कि तकनीक का सवाल एक निहायत सापेक्षिक मामला है। उसकी पूरी अवधारणा को विचारने के लिए हमें उन न्यूनतम संदर्भ बिन्दुओं का ख्याल रखना होगा जो उसकी सापेक्षिक स्थिति को दर्शा सकें। इसलिए जब हम मीडिया के संदर्भ में तकनीक के सवाल से जद्दोजहद कर रहे होते हैं तो यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि हम किन संदर्भ–बिन्दुओं के तहत तकनीक की ग्राह्यता पर विचार करते हैं।

मीडिया की तकनीक पर विमर्श करते समय हम किन संदर्भ बिन्दुओं का चुनाव करें– यह मामला इस राजनैतिक सवाल से गहरे तौर पर जुड़ता है कि हम क्या और किस प्रकार सम्प्रेषित करते हैं। मीडिया के विकास का मामला आखिर किस समुदाय से जुड़ता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिम बिहार में बच्चे गली–मुहल्लों में 'बाघ–बकरी' का खेल खेलते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में जहां बाघ, बकरियों को मारता है, वहीं बकरियां, बाघ को घेरने का प्रयास करती हैं। यह खेल एक विशेष प्रकार के मनोरंजन से जुड़ता है। इसके समक्ष अगर हम बहुचर्चित वीडियो–गेम की तरफ देखें तो पता चलता है कि वहां भी बच्चे इसी किस्म के मनोरंजन कर रहे होते हैं। फर्क महज इतना है कि वीडियो–गेम के 'की–बोर्ड' की समझ के जरिये वे जहां एक वर्चस्वशाली समुदाय से जुड़ रहे होते हैं, वहीं बाघ–बकरी अपेक्षाकृत छोटी

जीवनशैली के संदर्भ में सम्प्रेषित होती है। यहां पर दोनों ही तकनीकों का महत्त्व वह दुनिया तय कर देती है जिसके परिप्रेक्ष्य में ये खेल रचे–बुने गये हैं। एक बच्चे की दुनिया आगे जा कर अपनी बकरियों के साथ जुड़ जाती है तो दूसरा बच्चा साइबरवाद का सहारा लेकर दुनिया में कई लोगों के लिए 'तकदीर' के निर्धारण का दावा करता है।

सन्दर्भ बिन्दुओं के चुनाव का मामला सिर्फ तकनीक की सामाजिक पृष्ठभूमि से ही नहीं जुड़ता बल्कि वह उससे कहीं ज्यादा इस बात से भी लगाव रखता है कि उस तकनीक का इस्तेमाल कौन–सा वर्ग कर रहा है। 'बाघ–बकरी' और 'वीडियो–गेम' का उदाहरण यह बताने के लिए पर्याप्त है कि तकनीक के सवाल को वृहत्तर व्यवस्था के परिपेक्ष्य में देखे जाने की जरूरत है। एक हद के बाद यह एक तरह का 'समझौता' है। इस समझौते के तहत एक 'बड़ी तकनीक' के बीच में आप अपनी छोटी–छोटी तकनीक को फिट कर रहे होते हैं या फिर उस 'बड़ी तकनीक' के समक्ष आत्मसमर्पण कर रहे होते हैं।

सम्प्रेषण का जो प्रचलित स्वरूप आज हम देखते हैं दरअसल वह इसका एक मानकीकृत रूप मात्र है। मानव व्यक्तित्व के विकासक्रम में इसकी उपस्थिति अपनी आन्तरिक प्रकृति से ज्यादा अपनी सामाजिक प्रकृति की वजह से होती है। मसलन सम्प्रेषण की यह आन्तरिक प्रकृति है कि बच्चा अपने परिवेश की भाषा सीखेगा लेकिन हम उसे विभिन्न संस्थाओं के जरिये एक मानकीकृत भाषा सिखाने की कोशिश करते हैं। ये संस्थायें न सिर्फ भाषा के इस मानकीकरण को सिखाती हैं बल्कि विभिन्न उपायों द्वारा मसलन– परीक्षा, प्रमाण पत्र वितरण, इत्यादि के माध्यम से इस मानकीकरण के पक्ष में माहौल भी तैयार करती हैं। यह प्रक्रिया कितनी जायज़ है– इस पर अलग से बात करनी होगी लेकिन इतना तय है कि भाषा व सम्प्रेषण की तमाम तकनीकें मानकीकरण और अन्ततः वर्चस्व बनाये रखने के लिए इरादों के मध्य रची–बुनी जाती हैं।

मानकीकृत तकनीकों के अपने दबाव की वजह से मानकीकरण के इतर सम्प्रेषण की तमाम सम्भावनायें समाप्त हो जाती हैं या फिर इतनी क्षीण हो जाती हैं कि उनकी उपस्थिति नहीं के बराबर होती है। इसके बरक्स सार्वजनिक सम्प्रेषण का जो स्वरूप होता है वह एक वृहत्त सम्प्रेषण–तकनीक के हिस्से के तौर पर पनपता है। हर समाज अपनी सम्प्रेषण की अवश्यकताओं (वर्चस्वशाली वर्ग की) के मुताबिक मीडिया की संरचना तैयार करता है। यह

संरचना जिस बड़ी तकनीक का निर्माण करती है वह वर्चस्वशाली वर्ग के इरादों को साधने का साधन मात्र होता है। मीडिया के 'जनतांत्रिकरण' की बात करते समय हमारे 'प्रगतिशील' मित्र यह भूल जाते हैं कि जिस प्रक्रिया से वह हर नागरिक को नाथना चाहते हैं वह कहीं न कहीं अवचेतन में एक ऐसी व्यवस्था को मजबूती दे रही होती है जो पहले से चली आ रही 'सामाजिक जड़ता' के पुनरूत्पादन की वजह बनती है।

विमर्श की तकनीक और सामाजिक जड़ता

मीडिया और इसके अन्तर्गत संचालित होने वाली पूरी प्रक्रिया किस प्रकार से तकनीक की गिरफ्त में आयी इसके लिए हमें पहले विमर्श की तकनीक की पड़ताल करनी होगी। 'विमर्श की तकनीक' अपने आप में बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आकर व्यवस्थित अध्ययन की शाखा बनी। इसका एक उदाहरण माईकल फूको (1988 : 19) की पुस्तक 'टेक्नोलॉजी ऑफ द सेल्फ' में देखने को मिलता है। यहां उन्होंने प्रचलित विमर्शों की आन्तरिक प्रकृति से विमर्श मात्र पर होने वाले नियंत्रण की ओर इशारा किया है। आगे के अध्याय में हम देखेंगे कि इस तरह की बहस ने जिस वैचारिक संरचना को तैयार किया, वह उत्तर–संरचनावादियों और उत्तर–आधुनिकों की शरणस्थली बनी और विमर्श विचारधाराओं की थाती न होकर अपनी स्वयं की दुनिया को रचने–बुनने लगा। लेकिन इस तूफानी बदलाव में भी विचार के संदर्भों से जुड़ी 'सामाजिक जड़ता' ज्यों की त्यों बनी रही। इसलिए हम यहां विमर्श की तकनीक पर चर्चा करने से पूर्व 'सामाजिक जड़ता' पर एक नजर डालेंगे।

विज्ञान के संदर्भ में, न्यूटन के जड़त्व का जो सिद्धान्त हम देखते हैं वह समाज के संदर्भ में भी उतना ही सटीक बैठता है। प्रत्येक वस्तु अपनी पूर्व–अवस्था को बनाये रखना चाहती है। यह मामला समाज की प्रत्येक प्रक्रिया और संरचना में बड़ी आसानी से देखने को मिलता है। परिवारवाद एक ऐसी ही सामाजिक अवस्था है। ज्ञान शाखाओं के संदर्भ में बात करें तो देखते हैं कि हर विषय अपनी एक विशेष तरह की जड़ता को बनाये रखना चाहता है। परिवर्तन की कोई भी गुंजाइश तभी बनती है जब उस विषय–शाखा

या संरचना–विशेष के बाहर से बल लगता है। जड़त्व का यह सामाजिक स्वरूप अपनी पूरी विकसित अवस्था में तब दिखाई देता है जब हम इसके ऐतिहासिक वजूद को पकड़ने की कोशिश करते हैं।

विमर्श की तकनीक को सामाजिक जड़ता कैसे प्रभावित करती है?– यह समझने की लिए यह जरूरी है कि पहले हम यह समझें कि विमर्श मात्र के संदर्भ में सामाजिक जड़ता क्या है और उसकी प्रकृति कैसी होती है? इसके लिए हमें ऐतिहासिक विकासक्रम से किसी एक प्रक्रिया का चुनाव करना होगा (यूं तो विमर्श का पूरा मामला ही उसकी तकनीक से जुड़ा है, लेकिन यहां हम किसी आन्तरिक तकनीक की बात न करके पहले विमर्श की बाह्य तकनीक पर बात करेंगे ताकि इस बात का ठीक–ठीक आकलन लगाया जा सके कि तकनीक और विमर्श का आपसी सम्बन्ध कैसा होता है)।

छपाई मशीन के आविष्कार को लेकर व्यापक विवाद देखने को मिल सकता है। लेकिन इस बात को लेकर बड़े पैमाने पर सहमति बनती दीखती है कि 1948 में जोहेंन्स गुटेनबर्ग ने मींज में एक छापाखाना की स्थापना की थी जहां पर बड़े पैमाने पर बाइबिल की छपाई होती थी। जैसा कि अधिकांश तकनीक के साथ होता है – छपाई की तकनीक भी आरम्भ में काफी महंगी थी। नतीजा यह हुआ कि केवल वे चीजें छपीं जो बिक सकती थीं। बावजूद इसके राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और वैज्ञानिक तबकों के बीच छपी हुई किताबें एक अनिवार्यता समझी जाने लगीं। वे सूचनायें ज्यादा वैध समझी जाने लगीं जो छापी गयीं। छापाखाने का आविष्कार सूचनाओं के प्रसारण के लिए हुआ था जबकि ये सूचनाओं के मानकीकरण का काम करने लगीं। सन् 1500 तक विभिन्न किताबों के चालीस हजार संस्करण छप चुके थे। ये किताबें यूं तो यूरोप के चौदह देशों में फैली हुई थीं लेकिन उसका दो–तिहाई हिस्सा जर्मनी और इटली की किताबें थीं। इन किताबों ने अपनी विषयवस्तु के तौर पर वहां की निहायत सामन्ती और वर्चस्वशाली मानसिकता का समावेश किया। इसी का नतीजा था कि बीसवीं सदी आते–आते इन पुस्तकों का 'जड़त्व प्रभाव' अपनी अभिव्यक्ति के शिखर पर था। वर्ग श्रेष्ठता के बोध को तह तक बिठाने में इन पुस्तकों के छापे जाने की ऐतिहासिक प्रक्रिया ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। छापाखाना ने छपे हुए शब्दों को जो वैधता और ताकत दी, वह उस ज्ञान पर तो भारी पड़ी ही जो समाज के बीच जन सामान्य के दैनिक संघर्ष का हिस्सा था बल्कि यह उससे कहीं

आगे अपनी आरम्भिक बाजारू और राजनैतिक प्रवृत्ति को ज्ञान के इतिहास की तरह दर्ज कराने में भी सफल रहा।

छापाखाने के आविष्कार ने विचार और ज्ञान के सृजन की प्रक्रिया से जुड़े उन तमाम लोगों को लामबंद किया, जो साक्षर थे। इन साक्षर लोगों में भी बहुत थोड़े से लोग सक्रियता से लिखने–पढ़ने के उपक्रम से जुड़े थे। लेकिन इस तकनीकी जुड़ाव की वजह से वे उन वर्गों पर भारी पड़े, जो निरक्षर थे या इस तकनीक से जुड़ाव स्थापित नहीं कर पाये। नतीजतन ज्ञान का वह तमाम हिस्सा जो निरक्षर लोगों के संघर्ष का हिस्सा था, धीरे–धीरे इस तकनीकी दानावल के नीचे दबता चला गया। इस कमी को सांस्कृतिक तारतम्यता के जरिये भी पूरा करना सम्भव नहीं हो पाया। आने वाले समय में शोधकार्यों के समक्ष यह एक बड़ी चुनौती होगी कि वे कैसे समाज में छपने वाली किताबों और वहां की सार्वजनिक चेतना में सम्बन्ध दिखायें। खास तौर से तब, जब हम इटली और जर्मनी में छपी पुस्तकों की भारी मात्रा के बाद बीसवीं शताब्दी में वहां पर नस्ली आन्दोलनों का बोलबाला देखते हैं। दरअसल छपाई की तकनीक के आविष्कार और उसके एक खास उपयोग ने यह एक तरह से निश्चित कर दिया कि विमर्श की प्रकृति क्या होगी।

इस पूरे ऐतिहासिक घटनाक्रम के संदर्भ में अगर हम बीसवीं शताब्दी पर एक बार फिर से दृष्टि डालें तो पाते हैं कि एक नयी तकनीक ने विमर्श को फिर से नये सिरे से प्रभावित करना शुरू किया है। वह है कम्प्यूटर। लेकिन इसके साथ ही हमें यह भी देखना होगा कि कम्प्यूटर का आगमन भी अपने आप में एक उसी तरह की सामाजिक मांग का परिणाम रहा है जैसा कि छापाखाने के आविष्कार का था। कम्प्यूटर की तकनीक उस दौर में आयी, जबकी दुनिया भर से 'राजनैतिक उपनिवेशवाद' समाप्ति की तरफ बढ़ रहा था। यह स्थिति किसी भी तरह से उस वर्ग को रास नहीं आ सकती थी जो कि अपने साम्राज्य को छोड़ रहा था। यह एक तरह से सामाजिक जड़ता के टूटने जैसी बात ही थी। लेकिन कम्प्यूटर के विकास ने 1990 आते–आते वह स्थितियां बना दीं जब तीसरी दुनिया के मनोजगत को नियंत्रित करने के लिए वहां राजनैतिक तौर पर उपस्थित होना जरूरी नहीं था (यही वह समय है जब बहुचर्चित गेट का समझौता हुआ जो कि विश्व पूंजीवाद के समक्ष आये एक बड़े संकट को कुछ समय के लिए टालने में कामयाब रहा)। कम्प्यूटर अकेले यह काम नहीं कर रहा था। उसे व्यापक पैमाने पर वैचारिक सहयोग भी मिल रहा था।

इतिहास के इस जिक्र के पीछे हमारा अपना इरादा विमर्श की आन्तरिक प्रकृति पर तकनीक के बाह्य दबाव को स्पष्ट करने का था। साथ ही यहां यह भी देखना होगा कि विमर्श करते समय हम ठीक–ठीक क्या कर रहे होते हैं या फिर जिस मानसिक प्रक्रिया को विमर्श कहा जाता है वह क्या होती है। ऊपर के उदाहरण में उन दबावों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है जो बाह्य रूप से विमर्श को प्रभावित करते हैं– आगे हम विमर्श की आन्तरिक प्रकृति को देखेंगे।

भारत के अनाज गोदामों में लाखों टन अनाज अतिरिक्त है– यह एक सूचना हुई। उत्तर प्रदेश में चार लोग भूख से मर गये– यह भी एक सूचना हुई, लेकिन जब इन दोनों सूचनाओं को हम एक साथ रखते हैं तो यह एक विमर्श का रूप ले लेता है। यह बात बड़ी सामान्य है। ऐसी परिस्थिति में विमर्श का स्वरूप इस बात से खास तौर से प्रभावित होता है कि आप जिस समाज में रहते हैं वहां किस प्रकार के तथ्य बाद में सूचनाओं का रूप लेते हैं और वह कौन–सी प्रक्रिया है जो किसी तथ्य को सूचना बनाती है। सूचनाओं के प्रवाह को पकड़े बगैर हम विमर्श को नहीं समझ सकते हैं। क्योंकि यह बात बेशक सामान्य लगे लेकिन किसी भी तरह के विमर्श की बुनियादी प्रकृति ही यह है कि इसमें हम दो या अधिक सूचनाओं को एक साथ रखते हैं। विर्मश को हम बेशक कई तरीकों में विभाजित कर लें लेकिन 'सूचनाओं की सजावट' उसमें एक अहम् भूमिका अदा करती है। आगे बढ़ने से पहले विमर्श के प्रचलित तकनीकों पर एक नजर डालें तो स्थिति और ज्यादा साफ होती है।

विमर्श का सबसे ज्यादा प्रचलित तरीका है– सूचनाओं की तुलना करना। आम तौर पर इस तरीके का इस्तेमाल समाजशास्त्रीय अध्ययनों में किया जाता है। समाजशास्त्री बेशक इन तरीकों को आम आदमी द्वारा किये जाने वाली तुलना से अलग बतायें लेकिन आम आदमी द्वारा की जाने वाली तुलना और एक समाजशास्त्री द्वारा की जाने वाली तुलना में कोई फर्क नहीं होता, कम से कम विमर्श की आन्तरिक प्रकृति के तौर पर। इसके विपरीत अगर हम विमर्श के एक अन्य रूप, विषयवस्तु–विश्लेषण का जिक्र करें तो यह भी एक सूचना विशेष को किसी वैचारिक परिदृश्य में जांचने का प्रयास करना है, और यह वैचारिक परिदृश्य कुछ वर्गीकृत सूचनाओं के समूह से बनता है। वह वैचारिक तकनीक ज्यादा महत्त्वपूर्ण मान ली जाती है जिसके जरिये हम किसी बड़ी विचारधारा से अपने विमर्श को जोड़ रहे होते हैं।

'समानता', 'बाजार' या फिर 'विकास' ऐसी ही विचारधारायें हैं। बेशक इनके रूप कई तरह के हैं– लैंगिक समानता, आर्थिक समानता, जातिगत समानता, लाभ, स्थायी विकास इत्यादि।

विमर्श की एक अन्य प्रचलित तकनीक है– विचारों का सर्वव्यापीकरण या फिर अमूर्तीकरण। ऐसी स्थिति में हम कुछ सूचनाओं को आधार बनाकर एक सर्वव्यापक मानक तैयार करने की कोशिश करते हैं। यह अमूर्तीकरण की प्रक्रिया उस व्यापक अनुभव जगत के मध्य होती है, जो अब तक की बटोरी गयी तमाम सूचनाओं से बनी होती है। कई बार हम सर्वव्यापीकरण की इस प्रक्रिया विशेष को किसी विषय का नाम दे देते हैं। मसलन 'इतिहास' के अध्ययन के जरिये अतीत की सूचनाओं का संग्रह किसी व्यक्ति को इतिहासकार बनाता है। उसके बाद वह व्यक्ति अपनी क्षमता के मुताबिक किसी नये तथ्य या तथ्यों से इतिहास में कुछ नये अध्याय जोड़ता है या फिर उन अध्याय विशेषों को एक दूसरी तरह की व्याख्या प्रदान करता है।

अगर हम विमर्श की इन तकनीकों में एक पैटर्न पकड़ने की कोशिश करें तो पाते हैं कि विमर्श सूचनाओं की 'सजावट' का ही नाम है। जाहिर है ऐसी स्थिति में विमर्श की तकनीक को हम सूचना के सम्प्रेषण की तकनीक से अलग रखकर नहीं देख सकते हैं। छापाखाना और कम्प्यूटर का उदाहरण यह बताता है कि सूचना का रखरखाव, प्रसारण और उत्पादन एक तरह की 'सामाजिक जड़ता' के बीच में ही होता है। ऐसी स्थिति में विमर्श की तकनीक भी इस प्रकार की सामाजिक जड़ता से अलग नहीं रह सकती है। कई बार हम जिन विचारों को प्रगतिशील विचार या परिवर्तनकारी विचार मानते हैं वह निकाय की भीतरी गतिकी का परिणाम मात्र होते हैं, जिसका कोई भी असर इस जड़त्व पर नहीं होता। लेकिन इस प्रक्रिया के इतर भी कई अन्य तरीके विमर्श का हिस्सा बनते हैं। मसलन न्यूटन का सेब को गिरते हुए देखना या फिर आर्कमिडीज का टब में अपने वजन को कम होते हुए महसूस करना। इन दोनों ही वैचारिक प्रक्रियाओं में अन्वेषण की तकनीक का इस्तेमाल किया गया है। अन्वेषण एक ऐसी ही तकनीक है जो काफी हद तक अपने इर्द–गिर्द मौजूद सामाजिक जड़ता से अलग हट कर विमर्श करने की इजाजत देती है। लेकिन यह एक विडम्बना ही है कि कोई भी अन्वेषण तब तक विमर्श का हिस्सा नहीं बनता जब तक वह पहले से मौजूद तकनीक के जरिये सम्प्रेषित न किया जाये।

मीड़िया और भाषा का यांत्रिकीकरण

मीडिया की बात अगर हम एक परिर्वतनशील समाज और उसकी वैचारिक प्रक्रिया के संदर्भ में करते हैं तो इस बात का प्रयास लगातार करने होंगे कि वह अपने आपको सम्प्रेषण के तरीकों और विषयवस्तु की बुनियाद दोनों ही ओर से 'सामाजिक जड़ता' से मुक्त करा सके। इसलिए न सिर्फ सम्प्रेषण की संरचना को बदलने की बात करनी होगी बल्कि उससे कहीं आगे बढ़कर उन 'तरीकों' पर गौर करना होगा जिनके जरिये हम 'सूचना' के प्रसारण की बात करते हैं। यहां पर एक बार फिर से हम 'छापाखाना' और 'कम्प्यूटर' की अपनी पूर्व बहस के आधार पर कहेंगे कि सम्प्रेषण की तकनीक लगभग यह तय कर देती है कि क्या सम्प्रेषित हो। 'माध्यम ही संदेश है' जैसे बहुचर्चित वाक्यों के जरिये इस विडम्बना को बार–बार उभारा गया है लेकिन यह विडम्बना एक महिमामंडन की तरह ही सामने आयी।

जब मीडिया की प्रचलित प्रणाली पर बात करते हैं, तो पाते हैं इस प्रणाली को सुचारु रूप से चलाने में भाषा की एक अहम भूमिका है। भाषा का विकास भी उस राजनीति से अलग नहीं रह पाता है जिसका जिक्र हमने छापाखाना के संदर्भ में किया। नतीजा यह होता है कि समाज में 'सूचना' की जो संरचना तैयार होती है उसमें उस वर्ग विशेष की ज्यादा बड़ी भूमिका होती है जिसकी पकड़ ऐसी तकनीकों पर हो जिसके जरिये भाषा का विकास होता है। ऐसी स्थिति में भाषा, वर्चस्व की वृहत्तर तकनीक के एक उपकरण मात्र की भूमिका निभाती है जैसे हिन्दी भाषा के विकास पर गौर करें तो पाते हैं कि गालियों की रचना, महिलाओं को निशाना बनाते हुए की गई। इसके वावजूद अगर हम केवल मानकीकृत भाषा को मीडिया की तकनीक के तौर पर इस्तेमाल करते हैं तो शुरुआती दौर से ही मीडिया अपने बुनियादी इरादों से हटने लग जाती है।

दरअसल मीडिया 'शब्दों' का उच्चारण जिस संदर्भ और तरीकों के साथ करती है उसके बाद एक निहायत व्यवस्थावादी किस्म का शब्दाडंबर शुरू होता है। जहां शब्द तकलीफों की बयानबाजी नहीं कर रहे होते हैं बल्कि उससे अलग हट कर उसका यांत्रिकीकरण कर रहे होते हैं। अपनी जिन्दगी में हर रोज लाखों–करोड़ों की तादाद में घरेलू महिलायें अपने

उत्पीड़न और उपेक्षा की स्थिति को नित्य महसूस तो करती हैं लेकिन इस एहसास को किसी भी तरह से वे अपने संघर्ष का आधार नहीं बना पाती हैं। कारण बड़ा साफ है अपने इस एहसास को व्यापक रूप देने के लिए उनके पास सम्प्रेषण की कोई तकनीक नहीं है। इसके बरक्स उनकी इसी तकलीफ को अपने बाजारवादी तरीके से मीडिया बखूबी अभिव्यक्त करती है। ऐसे कई सीरीयल बने हैं, जिनमें महिलाओं को घरेलू चक्की के बीच पिसते हुए दिखाया गया है। लेकिन इन सीरियलों की बुनियादी चेतना, तकलीफ को बेचने की होती है, न कि उनको लामबंद करने की।

यह मामला 'तकलीफ' के भाषायी रूपान्तरण मात्र का नहीं है बल्कि उससे भी आगे बढ़कर यह सवाल अभिव्यक्ति की तकनीकों की सामाजिक उपस्थिति से जुड़ता है। घरेलू महिलाओं, मजदूरों और किसानों की यह तकलीफ जिस प्रकृति की होती है वह उन बाजारवादी तकनीकों से सम्प्रेषित नहीं हो सकती जिनका विकास एक अभिजन–दबाव के मध्य हुआ हो। मसलन टेलीविजन के कार्यक्रम की विषयवस्तु और नुक्कड़ नाटक की विषयवस्तु हमेशा से ही अलग–अलग थे और रहेंगे क्योंकि दोनों ही तकनीकों का विकास अलग–अलग सामाजिक दबावों के मध्य हुआ है।

दरअसल मीडिया एक व्यापक सामाजिक जड़ता के बीच काम कर रहा होता है। इस जड़ता को तोड़ने या बदलने के लिए हमें उन बिन्दुओं को तलाशना होगा जहां हम इस सामाजिक संरचना के बाहर जा कर बल लगा सकें। इसके लिए तकनीक को न सिर्फ इस व्यवस्था से निरपेक्ष अवस्था में विकसित करना होगा बल्कि इससे कहीं आगे बढ़कर उसे अपनी प्रकृति मात्र में जड़ता–विरोधी रूप देना होगा। यहां इसका ध्यान रखना होगा विमर्श के ढांचे को बाह्य रूप से प्रभावित करने वाली सम्प्रेषण तकनीकों का स्वरूप ऐसा बने कि वे वृहत्तर समूह को ध्यान में रखकर काम कर सकें।

वैचारिक संक्रमण और सम्प्रेषण के औजार

'वर्चस्व' मानव सभ्यता की एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें समाज का एक तबक़ा परम्परा, प्रचलन, विधि या अन्य संरचनाओं के ज़रिये दूसरे वर्गों के संसाधन, अवसर और भावनात्मक जगत का इस्तेमाल अपने हक में करता है। बीसवीं सदी के मध्य तक यह स्पष्ट हो चुका था कि वर्चस्व की स्थापित संरचनाओं, कम–से–कम उपनिवेशवादी राजनीति को छोड़ना पड़ेगा। परम्परागत तौर से वर्चस्वशाली तबके को नयी संरचनाओं की जरूरत महसूस हुई और यह जरूरी हो गया कि नई संरचनाओं को लाने से पहले वर्चस्व का विरोध करने वाली 'चेतना' और 'विचारधाराओं' को बेमानी साबित कर दिया जाये। लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में उन विचारधाराओं को बेमानी साबित करना काफी मुश्किल है जो किसी भी तरह के वर्चस्व का विरोध करती हैं। ऐसी स्थिति में एक विकल्प यह उभरा कि विचारधाराओं को इतने छोटे–छोटे टुकड़ों में बांट दिया जाये कि उनका असर ही समाप्त हो जाये। इस अध्याय में पहले हम विचारधाराओं के विखण्डन की प्रक्रिया को समझेंगे फिर सम्प्रेषण के उन तौर–तरीकों का रेखांकन प्रस्तुत करेंगे जिनका विकास उत्तर–औपनिवेशिक काल में हुआ।

विचारधाराओं का विखण्डन

आगे बढ़ने से पहले 'विचारधारा' की संरचना पर गौर करते हैं। प्रत्येक विचारधारा कुछ नियत उद्देश्यों और दर्शन को लेकर आगे बढ़ती है। ये उद्देश्य और दर्शन काफी हद तक ऐतिहासिक अनुभवों और स्थितियों से तय होते हैं। इन उद्देश्यों और दर्शन के समूहों को यहां हम 'धुरी–केन्द्र' कहेंगे।

यह धुरी–केन्द्र कई उपकेन्द्रों से अपने को जोड़ता है। इन उपकेन्द्रों को यहां हम 'धुरी–बिन्दु' कहेंगे। प्रत्येक धुरी–बिन्दु, धुरी–केन्द्रों के उद्देश्यों और दर्शन के संदर्भ में राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक या सामाजिक घटनाओं की व्याख्या प्रस्तुत करता है। जैसे–जैसे 'धुरी–केन्द्र' की दूरी (वैचारिक) 'धुरी–बिन्दुओं' से बढ़ती है वैसे–वैसे 'धुरी–बिन्दुओं' में धुरी–केन्द्र बन जाने की प्रवृत्ति बढ़ती चली जाती है और नये 'धुरी–केन्द्र' का निर्माण होता है। यह सब कुछ समय के साथ नयी पनपी परिस्थितियों से तय होता है। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नये धुरी–केन्द्रों के बनाने का और उसका राजनैतिक इस्तेमाल करने का काम काफी तेज हो गया।

बीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में वैचारिक प्रक्रियाओं और उसकी गतिकी में जो तूफानी बदलाव आया, उसके बाद यह मानने वालों की संख्या बढ़ती चली गयी कि किसी भी विमर्श को कुछ चुने हुए धुरी–बिन्दुओं के संदर्भ में ही किया जाता है। इन नये धुरी–बिन्दुओं के निर्धारण में एक ओर वर्तमान का दबाव काम कर रहा था तो दूसरी ओर मानवीय विकास के ऐतिहासिक जड़त्व की भी जबरदस्त भूमिका थी। प्रत्येक नया चिन्तन अपने आप को ऐतिहासिक जड़त्व से मुक्त कराने की कोशिश करता है। समानता और समता जैसी तमाम वैचारिक परिघटनाओं में इस आग्रह को बार–बार देखा गया लेकिन जब चिन्तन के परिवर्तन का दौर होता है, जिसे हम इस नयी समाजशास्त्रीय शब्दावली में कहें तो यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि जब विमर्श की प्रक्रिया धुरी–बिन्दुओं को धुरी–केन्द्रों में बदल रही होती है (जोकि एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है) तब वैचारिक संक्रमण या वैचारिक बदलाव का दौर शुरू होता है। ऐसी स्थिति में धुरी–केन्द्र (विमर्श का निर्णायक धुरी–बिन्दु) की भूमिका निर्णायक हो जाती है और यही 'केन्द्र' उस विचारधारा विशेष से जुड़े समूह को किसी भी संक्रमणकालीन आपदा से निपटने में मदद पहुंचाता है।

धुरी–केन्द्रों और बिन्दुओं के संदर्भ में विमर्श को देख सकने के प्रचलन ने इसकी तकनीक (विमर्श करने की) को गहरे तौर पर प्रभावित किया। ऐसा नहीं था कि इससे पहले के विमर्शों में धुरी–बिन्दुओं का अभाव रहा हो, लेकिन इनका चुनाव इस कदर सचेत होकर नहीं किया जाता था। साथ ही एक बार में दो विपरीत बिन्दुओं से विमर्श करने को 'वैचारिक दोगलापन' माना जाता था या फिर लापरवाही। लेकिन पिछले तीन दशकों में घटनाओं ने काफी तेजी के साथ करवट बदली। विमर्श के साथ धुरी–बिन्दुओं को

जोड़ने का प्रचलन और इसकी आवश्यकता इस कदर बलवती होती गयी कि वैचारिक सम्पूर्णता का दावा न सिर्फ बेमानी लगने लगा बल्कि इसे एक तरह की अबोधता का पर्याय मान लिया गया। इस नये वैचारिक संसार ने हमारे विमर्श को 'सामाजिक जड़ता' से मुक्त बेशक न किया हो लेकिन इतनी कामयाबी ज़रूर मिली कि इस जड़ता से छुटकारा पाने की कोशिश हमारे सचेत प्रयासों का हिस्सा बन गयी। उन वैचारिक स्वरूपों को कुछ निश्चित और सचेत तकनीकों से पकड़ने की कोशिश की गयी जो जाने–अनजाने अपनी ऐतिहासिक उपस्थिति की वजह से विमर्श को लगातार प्रभावित करते रहे।

वैचारिक संसार में जो कुछ यह अन्दरूनी घटना घटी, उसका असर बाह्य दुनिया पर क्या हुआ, और क्या होगा, इसके आकलन के लिए हमें थोड़ा और इन्तजार करना होगा। लेकिन जब तक हम इसका आकलन लगा पायेंगे या लगा रहे होंगे तब तक नये परिदृश्य हमारे सामने होंगे। इसलिए हमें अपनी कोशिशों की तीव्रता को बढ़ा कर इन चीजों को तत्काल समझना होगा। वरना यह वैचारिक झटका विमर्श की आरंभिक और परम्परागत संरचनाओं को तबाह करने के लिए काफी होगा। हो यह रहा है कि विमर्श की दुनिया से जुड़े लोगों का एक वर्ग या तो इस वैचारिक झटके को सहन कर पाने में अपने आप को असमर्थ पा रहा है और उन्होंने सीधे–सीधे आत्म –समर्पण कर दिया है, या फिर अपनी राजनैतिक स्थिति की वकालत को ही विमर्श मान बैठे हैं। दूसरा वर्ग अपनी शब्दावलियों और प्रशिक्षण की वजह से ऐसी संरचनाओं में फंसा रह गया जिसका वजूद मात्र ही ऐतिहासिक जड़ता का कारण बना हुआ है। यह दूसरा वर्ग जो अपेक्षाकृत विमर्श मात्र के प्रति ज्यादा आस्थावान रहा है, उस वैचारिक साहस को एकत्रित नहीं कर पाया जिससे वह अपनी शब्दावलियों और भाषा संरचना की जड़ता पहचान पाता और उनसे मुक्त होने की कोशिश करता। इस वैचारिक उथल–पुथल के दौर को संज्ञा में समेट देने की कोशिश करते हुए कभी 'उत्तर–आधुनिकता' का हवाला दिया गया तो वहीं दूसरी ओर 'उत्तर–संरचनावाद' एक ऐसा ढाल बना है जो प्रत्येक 'क्यों' से बचने का रास्ता मुहैया करा देता है।

इस वैचारिक संक्रमण की यह त्रासदी थी कि इसमें बौद्धिक तौर पर पलायित कर जाने की प्रवृत्ति व्यापक तौर पर देखने को मिली। इस पलायन का एक बड़ा कारण विमर्श की नयी तकनीकों का उद्‌भव रहा, (यूं भी प्रत्येक नयी सामाजिक और वैज्ञानिक स्थिति एक पूरे ऐसे वर्ग को पलायित या

विलुप्त होने के लिए मजबूर कर देती है जो नयी स्थितियों से तालमेल नहीं बिठा पाता है। कम–से–कम तब तक हमें इस विचार से काम चलाना पड़ेगा जब तक हम 'उत्तर–डार्विन' वैचारिक प्रक्रियाओं को समझ नहीं लेते)। जैसा कि अक्सर होता है नयी तकनीकों को पुराने और चूक रहे समाज की गालियां सुनने को मिलती हैं। विमर्श की इन तकनीकों को भी मिलीं। खास तौर से उन लोगों द्वारा जो उपनिवेशों और उपनिवेशवाद के विरोध की 'ऐतिहासिक विरासत' के मालिक थे। यहां परिकल्पना यह है कि प्रत्येक शोषणकारी संरचना के विरोध में पनपी क्रान्ति एक नयी विरासत को जन्म देती है। लेकिन आरोप से भी बढ़कर आलोचना करने वाले इस वर्ग ने ढंग से इस पूरी प्रक्रिया को समझने तक की जहमत नहीं उठाई। नतीजा यह हुआ कि अपने पलायन को जायज ठहराने के लिए कई शब्दों का प्रयोग स्लोगनों की तरह किया गया। इन शब्दों के इस्तेमाल में न्यूनतम वैचारिक सावधानी भी नहीं बरती गयी। इतनी भी जरूरत नहीं समझी गयी कि जिस आलोचनात्मक तर्कशास्त्र का सहारा आप ले रहे हैं उसमें अवधारणात्मक समरूपता भी हो। मसलन एक शब्द 'बाजार' का प्रयोग बार–बार हुआ और एक विलेन की तरह हुआ। बाजार की आलोचना अब तक की सबसे चर्चित परिघटना है जिसके जरिये हम इस बौद्धिक पलायन को समझ सकते हैं। आश्चर्य है कि जब–जब बाजार की आलोचना की गयी, तब–तब उन लक्ष्यों के संदर्भ में की गयी जिनका निर्धारण 'विमर्श' की ही एक अलग दुनिया ने किया था। दूसरी बात यह कि बाज़ार की आलोचना उसके संस्थाई स्वरूप को लेकर नहीं की गई, बल्कि आलोचना का आधार बनी वह 'विकृति' जो कि किसी भी तरह की संस्थाओं में एक समय के बाद आ ही जाती है। चूंकि 'बाजार' शब्द का प्रयोग अपनी बौद्धिक पलायनवादिता को जायज ठहराने के लिए किया जा रहा है इसलिए सुविधानुसार इसे एक संस्था, एक समूह या फिर एक गैंग की तरह प्रचारित किया गया। गौरतलब है कि 'विकृति' की आलोचना और संस्था की आलोचना दोनों ही दो चीजें हैं। लोकतंत्र में 'विकृति' की आलोचना करने वाले लोकतंत्र की आलोचना नहीं करते।

अन्य तमाम संक्रमणकालीन अवस्थाओं की तरह इस बार भी विमर्श के पहले से तयशुदा नियम ढीले पड़े। इस संक्रमण काल में यह आजादी प्रत्येक विमर्शकर्त्ता में मिली कि वह एक लम्बे समय तक के लिए आदर्शों के किसी बने–बनाये राजमार्ग पर चले या फिर न चले। वह कहीं पर भी यू–टर्न ले सकता है, वह भी बगैर किसी जुर्माने के, क्योंकि यू–टर्न अब इस

वैचारिक 'यातायात' के नियमों में शामिल हो गया है। इस वैचारिक बाढ़ में तबाही तो काफी हुई लेकिन वह अपने पीछे काफी उपजाऊ मिट्टी छोड़ गयी। ऐतिहासिक तौर पर वह अवसर मिला जहां विमर्श की आन्तरिक प्रकृति उसकी जड़ता से मुक्त होने की कोशिश करने लगी।

यह वैचारिक संक्रमण न तो एकदम से कोई नयी परिघटना है न ही ऐतिहासिक तौर पर अचानक प्रगट हुई कोई सामाजिक अवस्था। इतिहास में झांकें तो पता चलता है कि इसकी स्थितियां काफी पहले से बननी शुरू हो गयी थीं। एक ओर विज्ञान की धारा जिस ओर मुड़ी उसने, और दूसरी ओर नयी बनी सामाजिक जरूरतों ने, विमर्श की पुरानी तकनीकों को चुनौतियां दीं। दो विश्वयुद्ध और उपनिवेश रह चुके देशों की भयंकर तबाही का नतीजा राजनैतिक स्तर पर तो निकलना ही था लेकिन यह यकीन भी काफी मुश्किल लग रहा था कि उसके बाद का वैचारिक संसार वैसा ही रह जायेगा, लेकिन परिवर्तन कैसा होगा यह स्पष्ट नहीं था।

सम्प्रेषण के नये औजार

विचारधाराओं की छतरी जैसे–जैसे टूटती गई, वैसे–वैसे आज़ाद हुए उपनिवेशों को सूचनाओं की बारिश में भिगोना आसान होता गया। पुराने उपनिवेशों को नये रूप तक पहुंचाने के लिए विचारधाराओं का विखण्डन मात्र पर्याप्त नहीं था, इस बार कच्चे माल और बाजार के बजाय इंसानी दिमाग निशाने पर था। इस दिमाग में उन सूचनाओं को भरना था जिन्हें पुराने उपनिवेशवादी चाहते थे। इस प्रक्रिया को सुनिश्चित करने के लिए सम्प्रेषण के नये साधनों की ज़रूरत पड़ी। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध पर गौर करें तो पाते हैं कि नये बन रहे वैचारिक परिदृश्य को सबसे ज्यादा प्रभावित किया सम्प्रेषण के नये साधनों के विकास ने, और कुछ हद तक नयी बनी सामाजिक स्थितियों ने।

विज्ञान की धारा बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हथियारों का निर्माण कर रही थी वहीं दूसरी ओर इस सदी के उत्तरार्द्ध में विज्ञान अपनी पूरी ताकत से सम्प्रेषण के साधनों को विकसित करने में लगा हुआ था। 1946 में कम्प्यूटर की पहली पीढ़ी का निर्माण हुआ और अस्सी का दशक आते–आते चौथी पीढ़ी का कम्प्यूटर बाजार में मौजूद था। इसकी क्षमता पहले के कम्प्यूटरों से लाखों गुना ज्यादा थी। कम्प्यूटर की दक्षता में सुधार जिस

तेजी के साथ किया गया इसकी मिसाल मानवीय इतिहास में कम ही देखने को मिलती है। अगर आवश्यकता आविष्कार की जननी है तो आखिर वह कौन सी ऐसी आवश्यकता थी जिसने बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सम्प्रेषण के इतने साधनों का विकास कर दिया कि इस सदी का अन्त आते–आते एक ऐसी घटना घटती है जिसे नाम दिया जाता है– 'सूचना क्रान्ति'। यह एक ऐसी सामाजिक अवस्था का नाम था जहां व्यक्ति के समक्ष कई ऐसी सूचनायें परोस दी गयीं जो ज़रूरत और जुड़ाव के स्तर पर उस व्यक्ति से कहीं भी मेल नहीं खाती थीं। 'क्रान्ति' का यह विरोधाभास हमें तब समझ में आता है जब हम विज्ञान के प्रयोग के जरिये 'क्रान्ति' तक पहुंचने के इस दौर में हुई सामाजिक घटनाओं पर गौर करते हैं।

इस दरमियान कई प्रक्रियाएं लगातार चलीं जिन्होंने विमर्श और सम्प्रेषण पर लगातार प्रभाव डाला। एक तरफ उपनिवेशवादी और सामंतवादी ताकतों के सामने अपने बिखरते हुए वर्चस्व को बचाने का सवाल था वहीं दूसरी ओर सदियों से वंचित रहे वर्गों में चेतना का नया उभार जन्म ले रहा था। इस बात को स्वीकार करने वालों का एक बड़ा तबक़ा तैयार हो गया कि दुनिया की जरूरतों और संघर्षों की जटिलताओं को 'बायां' या 'दायां' के दो खेमों में बंध कर नहीं सोचा जा सकता है। इस तरह की खेमेबाजी और चिन्तन प्रक्रिया का खमियाजा विश्व दो महायुद्धों को झेल कर भुगत चुका था। इस उत्तर–उपनिवेशवादी दौर में नये चिन्तन और वैचारिक परिदृश्य का निर्णायक आधार बनी वह ऐतिहासिक चेतना जहां मानव एक जीव से बढ़कर अपने अस्तित्व के अधिकार की मांग कर रहा था। लोकतंत्र और व्यक्ति–स्वतंत्रता का फैलाव रूमानियत की हद तक महसूस किया गया। ऐसी ही कुछ ऐतिहासिक प्रक्रियाएं स्पष्ट तौर पर दिखती हैं जो इस रूमानी उभार को बताती हैं। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए छात्र आन्दोलनों में यह बात और निखर कर दिखायी पड़ती है।

1960–90 के दरमियान विश्व भर में हुए छात्र आन्दोलनों में भौगोलिक विस्तार के लिहाज से बेशक दूरी हो लेकिन उनमें से प्रत्येक की जड़ में समाज को और ज्यादा मानवीय बनाने की कोशिशें विद्यमान थीं। 1960 के दशक में छात्र आन्दोलन फ्रांस और अमरीका जैसे विकसित देशों से शुरू हुए, फिर सत्तर के दशक में हुआ भारत का छात्र आन्दोलन और बीसवीं सदी के आखिरी हिस्से में चीन में थ्येन ऑन मेन चौक पर चीनी सरकार द्वारा लोकतंत्र की मांग कर रहे अपने छात्रों का खून बहाना। ये सब के सब

एक ही विश्वव्यापी प्रक्रिया के हिस्से थे। ये आन्दोलन अपने आप को तात्कालिक तौर पर बेशक किसी निर्णायक मकाम पर न पहुंचा सके हों लेकिन ये उस वृहत्तर समाज के भीतर चलने वाली भू–गर्भीय प्रक्रिया को तो संकेतबद्ध करते ही हैं जिसकी वजह से किसी भी समय चेतना का ज्वालामुखी फट सकता था। इन प्रक्रियाओं को वंचित और उत्पीड़ित समाज ने पकड़ा हो या न पकड़ा हो लेकिन वर्चस्वशाली समुदाय की तेज निगाहें लगातार इस पर जमी हुई थीं।

'छात्र' विमर्श की जड़ता से सबसे कम प्रभावित होने वाला तबका है। उत्तर–औपनिवेशिक युग में युवाओं के इस समूह को नियोजित करना एक प्रमुख वरीयता बनी। इस समूह को कुछ ऐसी सूचनाओं से घेरना था कि उसकी उम्र के कुछ निश्चित वर्ष एक मायावी दुनिया में ही गुजरें। 1980 के दशक और उसके बाद मनोरंजन, सेक्स और पैसा कमाने सम्बन्धी सूचनाओं में काफी बढ़ोत्तरी हुई। या फिर यूं कहें कि युवाओं के मस्तिष्क और उसमें आने वाले विचारों को सांचाबद्ध करने का काम शुरू हुआ ताकि वे अपनी राजनैतिक और सामाजिक सच्चाईयों से कटते चले जायें। बीसवीं सदी के आखिरी वर्षों और 21वीं सदी के शुरुआती वर्षों की 'इंडिया टूडे' और 'आऊटलुक' नामक दो प्रमुख भारतीय पत्रिकाओं का अवलोकन बताता है कि मनोरंजन, सेक्स और पैसा इनके पसंदीदा विशेषांक हैं। कुल मिलाकर हम देखते हैं कि बीसवीं सदी के अन्त तक खास तौर से 1990 के बाद एक ओर विचारधाराओं का विखण्डन शुरू हुआ तो वहीं दूसरी ओर एक अन्य घटना घटी जिसे हम सूचना क्रान्ति के नाम से जानते हैं। नव–उदारवादी फलसफे ने यह गुंजाइश की कि हम शोषणकारी व्यवस्थाओं के राजनैतिक विकल्प के बजाय एन.जी.ओ. के मार्फत छोटे–छोटे 'कल्याणकारी' कार्यक्रमों को चलायें।

अभिव्यक्ति की राजनीति

वर्चस्व की राजनीति मानव–समाज के लिए जितनी पुरानी प्रक्रिया है उससे कहीं ज्यादा पुरानी परिघटना है अभिव्यक्ति की राजनीति। भाषा–शास्त्र के जानकारों ने इस बात को पकड़ने की कोशिश तो खूब की कि व्यक्ति किसी अनुभव या तथ्य को कैसे सम्प्रेषण के योग्य बनाता है लेकिन यह सवाल हमारी चर्चा के केन्द्र में काफी कम आया कि आखिर क्योंकर कोई अनुभव विशेष ही सार्वजनिक अभिव्यक्ति रूप में आ पाता है। सार्वजनिक अभिव्यक्ति का सवाल इस सरोकार से गहरे तौर पर जुड़ता है कि हम मानवीय समाज में 'सम्बन्धों' और 'आपसी जुड़ाव' का स्वरूप कैसा रखना चाहते हैं। यह सवाल इसलिए और ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि बहुधा इन्हीं 'सम्बन्धों' के पायदान पर वर्चस्व की मीनार खड़ी की जाती है।

सामाजिक अन्तःक्रिया का आधार

साइबर दुनिया के फाइबर वायर को हम बड़ी आसानी से देख लेते हैं और यह महसूस भी कर लेते हैं कि दो अलग–अलग साइबर जीवियों के जुड़ाव का आधार यह फाइबर वायर बनता है। जाहिर है इन सम्बन्धों में उस व्यक्ति की स्थिति ज्यादा मजबूत होगी जिसकी भावनाओं को प्रगट करने वाली सूचनाओं की, इस नेट–जाल में अधिकता होगी। जरा पीछे मुड़कर देखें तो इस नयी परिघटना के उदाहरण से हमें कई और बातों का पता चलता है। साइबर दुनिया के वर्तमान जुड़ाव के पीछे की तकनीक को हम बड़े मूर्त स्तर पर महसूस कर लेते हैं। यूं भी अभी यह ताजा आविष्कार है और वह दुनिया हमारे चेतन मस्तिष्क का हिस्सा है जिसमें साइबरवाद का नामोनिशान नहीं

था। इसलिए इस साइबर दुनिया से अलग हट कर हम उसे देख पाते हैं। लेकिन अभिव्यक्ति की वृहत्तर दुनिया में ऐसा नहीं हो पाता है। अभिव्यक्ति का इतिहास अपने कई पड़ावों को पार कर चुका है। इसलिए 'अभिव्यक्ति' के स्तर पर समाज और दुनिया के दो या अधिक व्यक्तियों के जुड़ाव की क्या तकनीक है यह हमारे चेतन मस्तिष्क का हिस्सा नहीं बन पाता है। अभिव्यक्ति जिस स्तर पर मानव समाज को नियंत्रित करती है वह बड़ी अमूर्त प्रक्रिया है। यूं तो इसे कई स्तरों पर महसूस किया जा सकता है लेकिन यहां हमारी तहकीकात के केन्द्र में वे अभिव्यक्तियां होंगी जो वर्चस्वशाली तबके और हाशिये के लोगों के बीच सम्बन्धों का निर्माण करती हैं। अभिव्यक्ति के इतिहास और उसके 'विकास' पर एक नजर दौड़ायें तो पाते हैं कि दरअस्ल वर्चस्वशाली तबके ने अभिव्यक्ति के 'कौशलों' और 'विषयवस्तु' को जिस तरीके से तैयार किया, वह उनके पक्ष को लगातार ज्यादा और ज्यादा मजबूत करती रही है। इस संदर्भ में एक बड़ी विडम्बना यह है कि कई बार अभिव्यक्ति की विषयवस्तु समाज का उपेक्षित या वंचित तबका तो होता है लेकिन किसी भी स्तर पर वह अभिव्यक्ति उनकी उत्पीड़न की स्थिति का साक्ष्यीकरण करने में कामयाब नहीं हो पाती है।

अभिव्यक्ति की इस राजनीति में दो काम एक साथ होते हैं। एक तरफ यह प्रक्रिया वर्चस्वशाली तबके के वर्चस्व को बनाती है तो दूसरी ओर वह फिर से ऐसी स्थितियां पैदा करती है कि जो भी नयी अभिव्यक्तियां की जायें, वह पुराने पैटर्न पर ही हों। इस राजनीति के पीछे क्या मंशा काम करती होगी– यह तब और भी ज्यादा स्पष्ट तौर पर सामने आता है जब हम इस बात की तहकीकात करते हैं कि आखिर क्योंकर व्यक्ति या समाज किसी कथ्य को 'कहता' है। इस बात का व्यापक तौर पर मतलब क्या है कि किसी विषयवस्तु को मीडिया द्वारा उछाला जाता है या फिर किसी अन्य विषयवस्तु को नहीं उछाला जाता है। इस पूरे सवाल के पीछे जो घृणित राजनीति छुपी हुई है। उससे बचने के लिए लगातार मीडिया प्रबन्धकों द्वारा 'न्यूज की मार्केट वैल्यू' जैसे चालू मुहावरों का प्रयोग किया जाता है। यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि किसी विषयवस्तु के किसी एक या कुछ आयामों को मीडिया अगर पकड़ता है तो यह इसकी प्रकृति द्वारा तो निर्धारित होता ही है इसके अलावा इनके चुनाव में उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का भी बड़ा योगदान होता है जो हजारों साल से अभिव्यक्ति के पीछे की गयी कसरत (राजनीति) का परिणाम होती हैं। हां, इतना जरूर होता है कि

कई बार इन अभिव्यक्तियों में उस विश्व संघर्ष की भी झलक मिलती है जिसके लिए हमेशा से ही समाज का एक तबका अपने को झोंकता रहा है ताकि मानव के इस समाज को और ज्यादा मानवीय बनाया जा सके। इसलिए जब हम मीडिया और अभिव्यक्ति की राजनीति पर बात कर रहे होंगे, तब वर्चस्व को स्थापित करने वाली प्रक्रियाओं तथा चेतना और अधिकार के सवालों से जुड़ी हुई अभिव्यक्तियों को अलग–अलग करके देखना होगा।

अभिव्यक्तियों के मिथक

वर्चस्व का सवाल कई तरह के सामाजिक आयामों से बनता है मसलन लिंग, जाति, भाषा, संस्कृति, शारीरिक विकलांगता, वयस्कता, आर्थिक स्थिति इत्यादि। हर सत्ताधारी वर्ग अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए अपने तरीकों को लगातार सुदृढ़ करता रहा है। इन्हीं तरीकों में शामिल होते हैं अभिव्यक्ति के साधनों और विषयवस्तुओं और शब्दावलियों का चुनाव। अगर पिछले एक दशक के घटनावार ब्यौरों पर नजर दौड़ायें तो हमें इस पूरी प्रक्रिया के अन्दरूनी दुश्चक्र की एक झलक मिलती है। हम उदाहरण के तौर पर पिछले एक दशक से भी ज्यादा समय से चल रहे 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' को देख सकते हैं। इस आन्दोलन का जो आन्तरिक स्वरूप है वह, और इसका मीडिया द्वारा प्रचारित स्वरूप, दोनों का फासला हमें तब तक समझ में नहीं आता जब तक हम सायास तरीके से आन्दोलन की अभिव्यक्ति और उसमें छिपी राजनीति को नहीं देखते, नर्मदा बचाओ आन्दोलन का नाम लेते ही कई चेहरे हमारी नजरों के सामने होते हैं चाहे वो मेधा पाटेकर हों, अरुंधति राय हों या प्रसिद्ध वकील शांतिभूषण।

आन्दोलन का पर्याय बन चुकी मेधा पाटकर की निष्ठा पर किसी भी तरह का सन्देह उठाना एक तरह की अतिवादी प्रक्रिया होगी लेकिन जब हम वृहत्तर संरचना के सन्दर्भ में आन्दोलन मात्र की अभिव्यक्ति को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं तो आन्दोलन के नेताओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। ये महज इत्तफाक नहीं कि आन्दोलन की तमाम अभिव्यक्तियां जिन व्यक्तियों के माध्यम से होती रही हैं उन लोगों की अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि उस क्षेत्र विशेष की नहीं थी। पूरी प्रक्रिया के

दोनों पहलुओं को अलग–अलग करके देखना होगा। पहला कि इस आन्दोलन की भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाले लोग कौन थे? उनके अभिव्यक्ति के साधन क्या थे? और उसे रखे जाने का मंच क्या था? दूसरा इस पूरी प्रक्रिया में वह कौन–सा वर्ग था जिसने अपनी दुनिया खो दी। इन दोनों तथ्यों को एक–दूसरे के बरअक्स देखने पर हम पाते हैं कि दरअसल 'आन्दोलन' अपने आप में वहां के आदिवासी आक्रोश को व्यवस्था के ढांचे में ढालने की एक कोशिश मात्र थी। इन आदिवासियों को अन्ततः हारना ही था क्योंकि उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति का ठेका जिन लोगों ने उठाया वे दरअसल व्यवस्था के लोग थे। यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि मेधा पाटकर या अरुंधति राय सायास प्रयासों और चेतन मस्तिष्क की बदौलत इस राजनीति का हिस्सा नहीं थे बल्कि ये लोग वो राजनैतिक मोहरे थे जिनका चुनाव एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया ने अवचेतन तौर पर कर रखा था।

इस आन्दोलन की खबरें जब–जब मीडिया द्वारा उठायी गयीं तब–तब वह खबर न हाशिये के लोगों की आवाज थी, न ही उनकी भावनाओं का प्रगटीकरण। यह जो भी था वह एक अपेक्षाकृत 'सभ्य व्यवस्था' के 'समाजसेवकों' द्वारा रची गयीं अभिव्यक्तियां थीं। जहां मीडिया सिर्फ सम्प्रेषण की भूमिका निभा रहा था। सन् 2000 के उत्तरार्द्ध में सर्वोच्च न्यायालय ने सरदार सरोवर के बांध की ऊंचाई बढ़ाने के संदर्भ में जब अपना फैसला सुनाया तो मीडिया में इस फैसले के विरोध में काफी कुछ कहा–सुना गया लेकिन कहीं पर भी उस व्यवस्था पर प्रश्न नहीं उठा जिसमें पक्ष और विपक्ष दोनों ही आदिवासियों के विरोध में खड़े थे। इस पूरे फैसले के तीन पहलू थे – सर्वोच्च न्यायालय, नर्मदा बचाओ आन्दोलन और आदिवासी। मीडिया ने सिर्फ पहले दो का जिक्र किया। आदिवासी एक बार फिर अपने आप को, और अपने उत्पीड़न एवं दमन को अभिव्यक्त करने से रह गये। यह कोई नई स्थिति नहीं थी, ऐसी घटनाएं भारतीय संदर्भ में लगातार घटती रही हैं कुछ तयशुदा व्यवस्थाओं और ग्रन्थों का हवाला देकर। आगे बढ़ने से पहले एक बार सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सरदार सरोवर बांध की ऊंचाई को बढ़ाने के फैसले के पीछे जो ब्राह्मणवादी तर्कशास्त्र है उसे और मीडिया द्वारा परोसी गई व्यवस्थावादी अभिव्यक्तियों पर एक नजर दौड़ायेंगे।

सर्वोच्च न्यायालय ने 'कानून' और 'विकास' का जिक्र जिस तरीके से किया वह सब कुछ ऐसा ही था जैसे ब्राह्मण मनुस्मृति का जिक्र करते थे।

मनुस्मृति उस दौर का कानून है जब एक वर्ग को दूसरे वर्ग से श्रेष्ठ महज इसलिए मान लिया जाता था कि उनकी जीवन पद्धति दूसरों से अलग होती थी या फिर वे कोई कार्य विशेष कर रहे होते थे। ब्रह्मा के बारे में चिंतन करने को, हल जोतने या जूता बनाने से ज्यादा श्रेष्ठ काम का दर्जा दिया गया। कालांतर में यह तय हुआ कि काम के बजाय जन्म से ही व्यक्ति की श्रेष्ठता तय होगी क्योंकि तत्कालीन सामाजिक–आर्थिक संरचना में भी बहुधा होता यही था कि बाप के व्यवसाय को बेटा अख्तियार कर लेता था। बहरहाल श्रेष्ठता का आधार था मनुस्मृति। इस श्रेष्ठता का कोई वैज्ञानिक या तार्किक आधार नहीं था कि हाथ से काम करने वाले, ब्रह्मा के बारे में चिंतन करने वालों से निम्न कोटि के क्यों हैं? जिन लोगों के पास धर्म की व्याख्या का अधिकार था उन्हें अपने समुदाय को श्रेष्ठ समुदाय और अपनी जीवनशैली को आदर्श जीवनशैली बताना ही था। नतीजा यह हुआ कि आने वाली कई सदियों तक इन निम्न लोगों को बाध्य किया जाता रहा कि वे 'उच्च लोगों' की जीवनशैली की नकल करें जिसे आधुनिक समाज विज्ञानियों ने 'संस्कृतिकरण' की संज्ञा दी। जो जितनी नकल कर सका वह जाति की सीढ़ी पर उतना ही ऊपर पहुंचा। इस प्रकार चार जातियां बढ़कर चार हजार जातियां हो गईं। एक लंबे समयांतराल में इन ब्रह्मज्ञानियों ने 'धर्म' की पृष्ठभूमि में कई तरह के 'नियम–कानून' बनाए। 'सुसंस्कृत' हो चुके लोग इन नियमों के प्रवक्ता बने और वे जिनका संस्कृतिकरण नहीं हो पाया वे मजदूर, किसान, आदिवासी कहलाए।

इस मायने में देखें तो सर्वोच्च न्यायालय का फैसला कोई चौंकाने वाला नहीं था। सर्वोच्च न्यायालय, कानून की किताबों के सहारे वही काम कर रहा था जो ब्राह्मण मनुस्मृति के सहारे करते आए थे। सदियों पहले ब्राह्मणवादी अनुष्ठानों और कर्मकांडों के बांध में कितनी आदि–संस्कृतियां डूबीं इसका कोई आकलन हमारे 'इतिहास' के पास मौजूद नहीं है। आने वाली पीढ़ियां शायद ही यह भरोसा कर पाएं कि सरदार सरोवर के नीचे कभी एक मुकम्मल दुनिया हुआ करती थी जिसकी अपनी एक विशिष्ट जीवनशैली थी। सर्वोच्च न्यायालय का यह फैसला शोषण की जिस ऐतिहासिक तारतम्यता के साथ जुड़ा है, वह तब तक समझ में नहीं आएगा जब तक हम यह न समझें कि बांध में क्या डूबा और जो कुछ डूबा वह अभिव्यक्त क्यों नहीं हुआ?

सरदार सरोवर के पानी में जो कुछ डूबा या अब डूबेगा वह हमारे लिए

मात्र कुछ पेड़, कुछ गांव, कुछ पहाड़ होंगे लेकिन वहां के आदिवासियों के लिए एक इतिहास, एक संस्कृति, एक ज्ञान–परंपरा डूबेगी। जिस झाड़ को कूट कर ये आदिवासी अपनी चोट पर लगाते थे वह सरदार सरोवर में डूब चुका है। इन्हें पता था कि पूस की रात को गर्म रखने के लिए जलावन कहां से मिलेगा। इस तरह के ज्ञान क्षेत्र का कोई आकलन हमारे शिक्षायी विमर्श का हिस्सा नहीं होता है। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान से निकले लोग जब विदेशों की ओर भागते हैं तो तर्क यह होता है कि उनके ज्ञान के इस्तेमाल लायक वातावरण भारत में नहीं है। इसके बरअक्स अगर हम नर्मदा घाटी के आदिवासियों की जिंदगी को देखें तो पाते हैं कि जिस दुनिया की ओर हम उन्हें जबरदस्ती ढकेलते रहे हैं वहां उनके ज्ञान और चेतना की कोई अहमियत नहीं रह जाती है।

घाटी में जो आदिवासी हैं, उनके जीने का सलीका, प्यार करने की अदा और अभिव्यक्ति के तरीके– सब के सब 'हम सिविलाइज्ड लोगों' से जुदा हैं। सैकड़ों साल से घाटी में रह रहे लोगों पर निश्चित तौर से कई विपदाएं आई होंगी और उन्होंने उनसे संघर्ष करने का अपना तरीका भी ईजाद किया होगा। हम नहीं जानते कि इन आदिवासियों के संघर्ष करने का तरीका क्या है? लेकिन पिछले कुछ वर्षों में यहां पर संघर्ष के जिन तरीकों को चुना गया है वे उसी व्यवस्था की उपज हैं जिनके विरुद्ध इन्हें लड़ना था। धरना, प्रदर्शन, अदालती मुकदमा, दरख्वास्त– ये सब के सब प्रतिरोध के ऐसे तौर–तरीके हैं जिसे एक 'गैर आदिवासी समाज' ने अपने हक में बनाया है। 'दूसरे' की जमीन पर अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ने वाले आदिवासी की हार उसी क्षण सुनिश्चित हो जाती है जब वह इन तौर–तरीकों से लड़ना शुरू करता है।

सन् 2000 में, जिस समय आदिवासी आन्दोलन की पताका फहराते हुए झारखंड–छत्तीसगढ़ बनने की खुशियां मनाई जा रही थीं, उसी समय नर्मदा की घाटी में मातम छाया हुआ था। झारखंड का आन्दोलन एक लंबे समय तक चला लेकिन न तो उन्होंने कभी बाहरी नेतृत्व को स्वीकारा, न ही सर्वोच्च न्यायालय की मार्फत दी जाने वाली अंग्रेजी न्याय–प्रणाली को। ऑक्सफोर्ड से पढ़ कर आने वाले जसपाल सिंह जैसे लोगों ने झारखंड आन्दोलन को एक 'राष्ट्रीय स्वरूप' बेशक दिया हो, लेकिन इतिहास गवाह है कि गैर–आदिवासी शिक्षा प्रक्रिया से जुड़े इन लोगों की वजह से ही झारखंड आन्दोलन को बड़ा झटका लगा। 1963 में जसपाल सिंह ने

झारखंड पार्टी का विलय कांग्रेस में कर दिया। नर्मदा की स्थिति पर गौर करें तो पाते हैं कि लगभग पच्चीस वर्ष पहले (1970–75 में) बांध बनाये जाने की परियोजना पर 'व्यवस्था' की सैद्धांतिक सहमति बनती है। वहां बड़ी मात्रा में आदिवासी आबादी और जंगल को खतरा होता है और एक 'बिखरा' हुआ आक्रोश पनपता है। 1986 और उसके बाद 'टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साईंसेज' की कुलीन शब्दावली के जरिये आदिवासी आक्रोश को उनकी जमीन से हांकते हुए 'व्यवस्था की युद्ध भूमि' पर लाया जाता है। इस जमीन पर कई चीजें हैं। एक कानून जिसे बनाने में इन आदिवासियों की कोई भूमिका नहीं थी, उनकी अंग्रेजी में व्याख्या करने के लिए न्यायालय और इस व्याख्या के आधार पर अपने को श्रेष्ठ बनाने वाली एक मशीनीकृत जीवऩ पद्धति। संवेदनशील मीडियाकर्मियों ने बताया कि 1994 में 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' की तरफ से दायर मुकदमा आदिवासियों की तरफ से दायर है, लेकिन वहां के 'आदिवासियों' और 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' में एक फर्क है। 'आन्दोलन' अदालती–व्यवस्था की जमीन पर जाकर लड़ने की सोच सकता है, आदिवासी नहीं।

बहुमत के शासन – लोकतंत्र में इस बात की कसमसाहट बढ़ती जा रही है कि शासन सर्वमत का बनाया जाये। शायद यही 'उत्तर लोकतंत्र' की स्थिति है। दुर्भाग्यवश समाज के उपेक्षित तबकों के अधिकारों की बात करने का ठेका जिन लोगों ने उठाया वे अपने ब्राह्मणवादी संस्कारों से कभी उबर नहीं सके। नतीजा यह हुआ कि लोकतंत्र के 'वंचितों' को 'मुख्यधारा' में शामिल करने की पुरजोर कोशिशें शुरू हुईं। कभी सुसंस्कृत और निर्जीव अकादमिक शब्दावलियों के जरिये, कभी आरक्षण का लोभ दिखाकर, तो कभी व्यवस्था द्वारा जारी फरमानों से। रही बात अदालत की, वह तो खैर, निर्विवाद तौर पर इस आधुनिक ब्राह्मणवादी राजतंत्र के मुख्य पुरोहित की भूमिका निभा रही है। सर्वोच्च न्यायालय का यह फैसला एक ऐसा ही ब्राह्मणवादी फतवा था जो नर्मदा घाटी के आदिवासियों को साफ–साफ चेतावनी दे रहा था कि या तो अपना 'वैश्वीकरण' कर लें या 'शूद्रों' की तरह नष्ट होने के लिए तैयार हो जायें।

नर्मदा बचाओ आन्दोलन के जिक्र के पीछे हमारी मंशा यह थी कि हम यह बता सकें कि मीडिया द्वारा की जाने वाली अभिव्यक्तियां उस व्यवस्था से नियंत्रित होती हैं जिनकी जड़ें इतिहास में छिपी होती हैं। ऐसी परिस्थितियों में वो वर्ग जो ऐतिहासिक घटनाक्रमों के कारण एक उत्पीड़ित और वंचित

स्थिति में जीने को बाध्य होता है, वह अभिव्यक्ति के स्तर पर भी अपने आप को सामने नहीं ला पाता है। इससे उसका अपना संघर्ष तो ढीला पड़ ही जाता है साथ ही वर्चस्वशाली तबके को यह मौका भी मिलता है कि वह अपने आपको मसीहाई अन्दाज में पेश करके वर्चस्व की नई स्थितियों का ताना–बाना तैयार करे। यह स्थिति (राजनीति) तब और खुलकर सामने आती है जब हम इसे हाशिये पर जी रहे लोगों के संदर्भ में आजमाते हैं क्योंकि कई बार इस हाशिये के वर्ग के प्रति जो चिन्ता की जाती है वह मात्र इसकी होती है कि व्यवस्था के जड़त्व में बड़े पैमाने पर किसी तरह का परिवर्तन न हो।

महिलाओं के अधिकार की बात और पर्यावरण के प्रति चिन्ता दोनों ही आवाजें लगभग एक साथ सुनाई पड़ीं, दरअसल यह बात बड़े पैमाने पर महसूस की गई कि पर्यावरण की उपेक्षा करके हम लम्बे समय तक अपनी स्थिति को ज्यों का त्यों बनाये नहीं रख सकते। महिलाओं को लेकर की जाने वाली चिन्ता कुछ–कुछ वैसी ही थी जैसी कि पेड़–पौधों, जानवरों के बारे में की जाने वाली हमारी चिन्ता। महिला अधिकारों की बात करते समय एक तो भाषागत संरचना की वजह से और दूसरे अभिव्यक्ति के कुछ चुने हुए मानक साधनों की वजह से कभी भी यह आवाज इतनी तीखी नहीं बन पायी कि वह पुरुषवादी व्यवस्था के जड़ तक कोई प्रहार कर पाती। चालू बातचीत में जितनी गालियों का प्रयोग किया जाता है वो सारी गालियां किसी न किसी महिला को दी जाती हैं लेकिन मीडिया में कभी भी इन गालियों पर न तो अलग से चर्चा हुई है न होगी क्योंकि 'शालीनता' के नाम पर मीडिया ने जिस भाषा संरचना को अपनाया है उसमें इतनी गुंजाइश नहीं बनती कि आप इन गालियों पर खुलकर चर्चा कर सकें। इस बात के विरोधाभास को पकड़े जाने की जरूरत है कि समाज के तमाम चालू शब्दों और 'मसालों' का प्रयोग करने वाली मीडिया इन गालियों से इतना परहेज क्यों करती है यद्यपि कृष्ण वल्लभ, बलदेव वैद्य, राही मासूम रज़ा जैसे कई साहित्यकारों ने बड़ी सफलतापूर्वक इन गालियों के घृणित पहलू को उभारा और एक वर्ग विशेष के उत्पीड़न को आधार बनाकर बढ़ रही अभिव्यक्ति के दोगलेपन को उजागर किया।

ऐसे तमाम टी.वी. सीरियल और अखबारों के फीचर रचे गये जो कामकाजी महिलाओं का उच्चारण इस प्रकार करते थे मानो वे किसी अधिकार सम्पन्न महिला की बात करते हों, लेकिन एक बार फिर से यह पूरा

संवाद वर्चस्वशाली वर्ग का ही संवाद साबित हुआ। कामकाजी महिला का संबोधन महिलाओं के उस छोटे वर्ग के लिए हुआ जो सुबह घर छोड़कर काम पर जाती है और शाम को घर पर आती है। गोया बाकी महिलाएं कामकाज करती ही न हों। कामकाजी महिलाओं को देखकर जो स्वतंत्रता का भ्रम खड़ा होता था उसके संदर्भ में किया गया विमर्श न सिर्फ अधूरा था बल्कि अतिवादी घटनाओं के द्वारा ही समझा या समझाया जाता रहा। इनके कार्यस्थल तक जाने और लौट के घर आने के जो बंधे–बंधाये रास्ते थे वो कुछ ऐसे ही थे जैसे किसी कैदी का कोर्ट जाना और वापस लौटकर जेल जाना। अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद महिलायें इस 'भूमिकाबद्ध उपस्थिति' से बाहर नहीं निकल पायीं। महिलाओं को लेकर बनाये जाने वाले कार्यक्रम (सीरियल और सिनेमा को छोड़ दें तो भी) न तो इस अघोषित छटपटाहट को पकड़ने की कोशिश करते हैं और न ही उनकी इस जकड़न को दर्शा पाये हैं।

दरअसल नारीवादी चिन्तन पर विमर्श तो खूब हुआ, इस चिन्तन की शब्दावलियां भी प्रयोग में लाई गईं लेकिन चूंकि मीडिया का ढांचा भी पुरुषवादी व्यवस्था के अधीन काम करता रहा है इसलिए निर्णायक तौर पर कोई बदलाव देखने को नहीं मिला। आदिवासियों और महिलाओं के संदर्भ में हमने जो चर्चा की उससे बहुत अधिक अलग हटकर, वह उत्पीड़न नहीं है जिसका सरोकार हाशिये पर जी रहे एक बड़े समुदाय से होता है। हाशिये पर जी रहे इस वर्ग की चूंकि अपनी कोई एकीकृत पहचान नहीं है इसलिए टुकड़ों में बंटे इस तकलीफ के विरोध को वर्चस्व की अपेक्षाकृत ज्यादा मजबूत लाठी से काफी आसानी से दबाया जा सकता है। यही कारण है कि जब–जब हाशिये के लोगों की बात उठी तब–तब यह चर्चा केवल उन लोगों तक सीमित रही जो लोग विकास के पिरामिड के सबसे ऊपरी सिरे पर थे।

मीडिया की संरचना और उसका नियंत्रण, यहां सब कुछ खुले तौर पर ऐसे लोगों के हाथ में है जो राजनैतिक और आर्थिक तौर पर वर्चस्वशाली लोग हैं। इसलिए यह बात किसी भी तरह से बेमानी नहीं लगती कि मीड़िया में जिन बातों की चर्चा की जाती है वह इस तबके के ही लोगों की धारणा है। इस प्रक्रिया में एक जनतांत्रिक समाज और उसकी जीवनशैली कहीं पर भी अपने आपको प्रतिबिम्बित करती नजर नहीं आती। शेयर बाजार और स्टॉक एक्सचेंज से जुड़े तमाम लोगों की संख्या मात्र 2–3% है जबकी विभिन्न अखबारों का 20 से 30% हिस्सा शेयर बाजार से जुड़ी गतिविधियों को समर्पित होता है।

सच, सर्वे और सम्पूर्णता

दरअसल क्या अभिव्यक्त किया जाये और कैसे अभिव्यक्त किया जाये– यह सब कुछ केन्द्रीयकृत तरीके से निर्धारित न भी किया जाता हो तो भी मीडिया की जो अपनी संरचना है उसमें इस बात की बहुत गुंजाइश नहीं बनती है कि उसके मार्फत हम हाशिये के लोगों की भावना को एक बोली दे सकें या फिर उनकी तकलीफ के रुदन को सुना सकें। पहली बात तो यह है कि मीडिया को जिस तरह से छोटे–छोटे टुकड़ों में बांट दिया गया है उसके बाद उसके पास ऐसी कोई परिवर्तनकारी शक्ति नहीं बचती कि वह किसी बड़ी समस्या पर उसकी सम्पूर्णता के साथ बहस कर सके। उसे आंकड़ों के लिए सीधे–सीधे ऐसी एजेन्सियों पर आश्रित होना पड़ता है जो सरकारी अनुदानों के भरोसे चलती हैं। लेकिन सरकारी भरोसे के सहारे चलने वाली एजेन्सियां अपने आंकड़ों का चयन अपने आकाओं के निर्देश के मुताबिक करती हैं न कि समुदाय व हाशिये के लोगों के मुताबिक।

पिछले कुछ वर्षों में मीडिया का एक बहुत ही प्रचलित काम देखने को मिला जिसे मीडियाकर्मियों ने सर्वे कहा। सर्वे के जरिये किसी भी समस्या के मध्यवर्गीय संस्करण की प्रस्तुति का काम काफी आसान हो जाता है। सर्वे करने के लिए विषयों का चुनाव बहुधा तात्कालिक घटनाक्रम से तय होता है। जैसा कि इससे पहले की चर्चा में हमने देखा कि सूचना के किसी खास पहलू को खबर बनाना और फिर उसे एक घटना का रूप देना– यह सब कुछ अभिव्यक्ति के कुछ चुनिंदा मानकों और वर्चस्व की राजनीति से तय होता है। इसलिए सर्वे की विषयवस्तु का चुनाव भी उसी राजनीति का हिस्सा होते हैं। फिर सवाल आता है सर्वे के लिए आंकड़ों या 'जनमत' के चयन के सर्वे का यह काम ज्यादातर महानगरों के मीडियाकर्मी ही करते, करवाते हैं। समय का दबाव उन्हें 'बाध्य' करता है कि वे आस–पास के लोगों में से ही आंकड़ों का चयन करें। और अंततः एक निहायत मध्यवर्गीय विषय पर महानगरों के कुछ चुनिंदा आंकड़ों के आधार पर बनी एक मध्यवर्गीय राय को समाज (भारतीय समाज) के एक बड़े सच की तरह प्रस्तुत किया जाता है। हर साल इंडिया टूडे का एक अंक यह बताता है कि देश के कौन से दस कॉलेज सर्वश्रेष्ठ हैं और वह इस बात का जिक्र करने की कोई कोशिश नहीं करता कि इन कॉलेजों की आन्तरिक संरचना हाशिये के लोगों और उनके संघर्षों से अपना कितना तालमेल बिठा सकती है।

इस सर्वे में यह कतई नहीं बताया जाता है कि इनमें दाखिला लेने वाले, यहां पढ़ाने वाले किस पृष्ठभूमि के होते हैं। न ही यह बताया जाता है कि ये लोग यहां पास होने के बाद किस तरह से हाशिये के लोगों के शोषण की चक्रीय व्यवस्था को फिर से मजबूत करने में लग जाते हैं। इंडिया टूडे जैसी पत्रिकाएं ऐसा कभी नहीं करती हैं कि देश के बदहाल कॉलेजों पर कोई सर्वेक्षण करायें या ऐसे ही किसी अन्य विषय का चयन करें।

एक और उदाहरण के लिए हम बेरोजगारी की स्थिति और मीडिया द्वारा इस पर अपनाये जाने वाले रवैये को देख सकते हैं। बेरोजगारी का मामला भारतीय समाज के लिए एक आम मामला है लेकिन किसी भी तरीके से हमारे मीडियाकर्मियों को यह आकर्षित नहीं करता। यहां हम फिर से स्पष्ट करना चाहेंगे कि बेरोजगारी के प्रति मीडिया में जो उपेक्षा का भाव है उसका अकेला कारण 'न्यूज वैल्यु' नहीं है बल्कि उससे कहीं ज्यादा उस चेतना का अभाव झलकता है जो बेरोजगारी को न्यूज वैल्यु वाली खबर बना सके। दुनिया के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश की किसी एजेन्सी के पास ऐसे आंकड़े नहीं हैं कि इस वक्त यह बताया जा सके कि देश में ठीक–ठीक कितने लोग बेरोजगार हैं। अधिक से अधिक बेरोजगार कार्यालयों में पंजीकृत बेरोजगारों की संख्या उपलब्ध हो सकती है। मीडिया इस आंकड़े को जुटा सके– उसकी इजाजत मालिक उसके आर्थिक कारणों से नहीं देते। उसके बावजूद इस बात की कोई बड़ी मांग मीडिया की तरफ से कभी भी नहीं उठायी गयी कि सरकार बेरोजगारी से संबंधित आंकड़ों को बताए। इसके अलावा बेरोजगारी पर जब–जब चर्चा की गई इसे हमेशा से ही कुछ 'नाकारा लोगों' की आर्थिक समस्या की तरह प्रचारित किया गया। बेरोजगारी एक आर्थिक मामला तो है ही लेकिन उससे कहीं ज्यादा यह एक भावनात्मक सवाल भी बनता है। बेरोजगारी पर मीडिया की चुप्पी युवाओं को उस अकेलेपन की ओर मोड़ देती है जहां वो इससे बचने के लिए कोई भी रास्ता अख्तियार करने को बाध्य हो जाते हैं।

मीडिया नियंत्रण में बेशक निजी स्वामित्व का बोल–बाला हो लेकिन दरअसल इसकी गतिविधियों का सरोकार बड़े सूक्ष्म स्तर पर समाज के विभिन्न तबकों से होता है। राजनैतिक तंत्र, आर्थिक तंत्र, और सामाजिक तंत्र से हताश हो चुका व्यक्ति अक्सर अपनी निराशा और आक्रोश की अभिव्यक्ति को तलाशता रहता है। जब वह अपनी इस मानसिक स्थिति को समाज में चल रही किसी अन्य प्रक्रिया से नहीं जोड़ पाता तब उसके सामने

दो ही विकल्प बचते हैं या तो वह व्यवस्था द्वारा फेंकी गई जूठन को स्वीकार करे और हाशिये पर मिली जगह से खुश रहे या फिर विद्रोह की अपनी प्राकृतिक ताकत का इस्तेमाल करे। लेकिन मीडिया, बाजार और राजसत्ता की जो मिलीजुली ताकत है वह किसी भी विद्रोह से बचने का पुख्ता 'इंतजाम' करके रखती है। यह अलग बात है कि इस 'इंतजाम' की राजनीति भी व्यक्त नहीं होती।

चेतना का प्रकटीकरण

मुक्ति की पहली जरूरत होती है कि वंचित और उत्पीड़ित वर्ग अपने आक्रोश को सटीक तरीके से बांधे और अभिव्यक्त करे। यह अभिव्यक्ति उसे वर्तमान सामाजिक ताने–बाने के बीच ऐसा आधार देती है जहां से वे परिवर्तन और इससे जुड़ी अन्य प्रक्रियाओं को संचालित कर सकते हैं। इसलिए सत्ताधारी की यह कोशिश हमेशा ही रही है कि वे वंचना की अभिव्यक्ति के निकायों पर अपना नियंत्रण बनाये रखें।

20वीं सदी के उत्तरार्ध में एक नई घटना घटी, वह थी स्वयंसेवी संस्थाओं (एन.जी.ओ.) का तेजी के साथ उदय। इस दौर में ऐसी ही ढेरों संस्थाओं का उदय हुआ जिनका दावा था कि वे हाशिये के लोगों के लिए काम कर रही हैं। ऐसी संस्थाएं दूरदराज के गांवों में आदिवासियों, हरिजनों के लिए काम करती थीं, बच्चों और महिलाओं के अधिकारों की बात करती थीं। 'गांधी' के सपनों को सच करने का दावा करती थीं। यही नहीं उन्होंने यह भी दावा किया कि प्रत्येक 'एकलव्य' के लिए किसी न किसी द्रोणाचार्य को उपलब्ध करायेंगी। इस दौर में ऐसे ढेरों 'जन आन्दोलन' देखने को मिले जो बच्चों की शिक्षा से लेकर पर्यावरण तक के मामलों को उठाते रहे। हर जन–आन्दोलन के पीछे एक न एक एन.जी.ओ. रहा है। इन संस्थाओं को वित्तीय सहायता या तो सरकार से मिलती है या बाजार की किसी एजेन्सी से। ये एजेन्सियां जब चाहे विद्रोह की धारा को इधर से उधर मोड़ सकती हैं। राजतंत्र और बाजार के इस खेल में मीडिया ने हमेशा ही इनकी मंशाओं के मुताबिक काम किया। मीडिया में जब कभी भी एन.जी.ओ. की इन गतिविधियों का ज़िक्र आया तो उसका उच्चारण कुछ इस पवित्रता के भाव से किया गया मानो कि मानव के अधिकार की आखिरी लड़ाई ये एन.जी.ओ.

ही लड़ रहे हों। इस पूरी प्रक्रिया के पीछे जो कोशिश काम कर रही थी वह यह थी कि हाशिये के लोगों के आक्रोश और उसकी अभिव्यक्ति को पूरे तरीके से नियंत्रित रखा जाये। नियंत्रण का माध्यम वह वित्तीय सहायता थी जो इस तरह के एन.जी.ओ. को लगातार मिल रही थी।

हाशिये के लोगों का सवाल जब भी खड़ा हुआ तो वह वर्चस्वशाली तबके के बरअक्स खड़ा हुआ। इसी कारण एक बार फिर से यह बात महत्त्वपूर्ण हो गई कि हाशिये की यह आवाज किन–किन तरीकों और माध्यमों के जरिये आगे बढ़ती है। इसलिए इस बात के पुख्ता इंतजाम कर दिये गये कि वे तमाम माध्यम और तरीके न सिर्फ स्वामित्व और नियंत्रण के दृष्टिकोण से वर्चस्वशाली तबके के अधीन हों, बल्कि अपनी प्रकृति मात्र में ही ऐसे हों कि वे किसी भी तरह से उस अभिव्यक्ति को अवरुद्ध करें जिसका सरोकार हाशिये के इन लोगों से था। सम्प्रेषण के माध्यमों की प्रकृति को अपने ढर्रे पर लाने के लिए उसे सीधे–सीधे अर्थ–तंत्र और राजनैतिक तंत्रों से जोड़ दिया गया।

नब्बे के दशक में जिस तरह से निजी चैनलों की बढ़ोत्तरी हुई वह इसी बाजारवादी हलचल का एक नतीजा था। लेकिन इसी बीच सरकारी हस्तक्षेप से 'प्रसार–भारती' की स्थापना के जरिये इस भ्रम को स्थापित करने की पूरी कोशिश की गई कि संप्रेषण के माध्यमों को सत्ता तंत्र से मुक्त कराने की कोशिश की जायेगी। प्रसार भारती के सदस्यों के चुनाव की प्रक्रिया उसी सत्तायी नियंत्रण के अन्तर्गत सम्पन्न होती रही है, जिससे मुक्ति की बात चल रही थी और दूसरी बात यह कि कई बार निरपेक्ष दिखने वाले सदस्य भी उस व्यवस्था के विपरीत जाकर निर्णय नहीं ले पाते हैं जिसके निर्माण में ऐतिहासिक तौर पर चली आ रही सामाजिक जड़ता विद्यमान होती है। इस कारण हमें व्यवस्था सुधार की उन कोशिशों को किसी अलग 'धुरी–केन्द्र' से देखना होगा न कि व्यवस्था में ही स्थित किसी धुरी–बिन्दु से। ऐसी परिस्थिति में अगर मीडियाकर्मी हाशिये के लोगों और उनकी अभिव्यक्ति से जुड़े सवाल उठाते हैं तो उन्हें राजनैतिक तंत्र और अर्थतंत्र द्वारा फैलाये गये इस ताने–बाने को गहराई से समझना होगा।

यहां दो अलग–अलग प्रक्रियाओं को एक साथ रखकर देखना होगा। पहली बात यह कि स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा चलाये जाने वाले आन्दोलन, हाशिये के लोगों के आक्रोश को व्यवस्था के सांचे में ढालना चाहते हैं न कि कोई वैकल्पिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं। ऐसा करना इन

संस्थाओं की प्रकृतिगत मजबूरी नहीं है बल्कि प्रक्रियागत मजबूरी है। इस तरह की संस्थाओं का कोई आर्थिक स्रोत नहीं होता इसलिए वे पूरी तरह वित्त मुहैया कराने वाली एजेंसियों के एजेण्डे पर काम करती हैं। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा प्रकट की जाने वाली 'चेतना' का एक विशिष्ट राजनैतिक स्वरूप होता है। दूसरी ओर 'लोकतांत्रिक' तरीकों से गठित सरकार की यह मजबूरी होती है कि वह कुछ सामान्य लोकतांत्रिक नियमों का पालन करे, नतीजतन सरकारी पैसे और राजनैतिक निमंत्रण के जरिये गैर–राजनैतिक संवैधानिक संस्थाओं की स्थापना की घोषणा होती है और अन्ततः यह उम्मीद बंध जाती है कि ये संस्थायें स्वतंत्र चेतना का सूत्रपात करेंगी। यह सिर्फ इत्तफाक नहीं हो सकता कि इस तरह की सरकारी संस्थाओं और बड़ी स्वयंसेवी संस्थाओं में एक ही तरह की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले लोग पाये जाते हैं। अन्ततः होता ये है कि ये दोनों प्रक्रियायें हाशिये के लोगों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हुए एक तरह की छद्म चेतना को प्रस्तुत करती हैं।

अभिव्यक्ति का लोकतंत्रीकरण

अपनी चर्चा पर वापस लौटते हुए हम एक बार फिर से यह कहना चाहेंगे कि अपनी इस बहस के शुरुआती सवाल, कि 'आखिर क्योंकर कोई अनुभव विशेष ही अभिव्यक्ति के रूप में आ पाता है', का जवाब हमें उन सामाजिक जटिलताओं में मिलता है जहां अभिव्यक्ति सीधे–सीधे वर्चस्व के सवाल से जुड़ती है क्योंकि अभिव्यक्ति ही किसी भी सामाजिक सम्बन्ध और क्रिया का आधार बिन्दु होती है। आज की तारीख में अभिव्यक्ति अपनी प्रकृति मात्र में लोकतांत्रिक बन पायेगी या नहीं, यह तयशुदा तौर पर नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्भव है कि जिस अभिव्यक्ति को आज हम लोकतांत्रिक होने का दर्जा दें वह कल के मानदण्डों पर गैर–लोकतांत्रिक हो जाये। कुल मिलाकर हमारा तर्क यह है कि अभिव्यक्ति का लोकतंत्रीकरण एक प्रक्रिया है न कि कोई परिघटना। इसके प्रत्येक चरण की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि इसका अगला चरण कितनी तेजी से आता है। यह महज एक रूमानी खयाल ही हो सकता है कि अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को वर्चस्व के षड्यंत्रों से अलग हटाकर चलाया जाये, लेकिन इतने मात्र से अभिव्यक्ति के

लोकतंत्रीकरण की कोशिशें बेमानी नहीं हो जातीं।

20वीं सदी के अन्तिम दशकों में मानव के अधिकारों की चर्चा चाहे जिन रूपों में की गई हो, चाहे जिस माध्यम से की गई हो, लेकिन मानव मात्र होने की वजह से प्रत्येक व्यक्ति को एक न्यूनतम अधिकार मिलना चाहिए– इस बात की सहमति बनती चली गई। कई बार बाजार का संस्थाई स्वरूप, जो कि मानवीय हित में विकसित किया गया था उस बाजारू विकृति पर भारी पड़ा जिसकी वजह से हमारे सामने 'प्रायोजित बाजारों' का संकट उठ खड़ा हुआ था। नतीजतन, इस आरम्भिक सिद्धान्त को एक नये तरह की स्वीकृति मिली कि बाजार के विकास में मूलतः मानव कल्याण निहित है। यद्यपि इस तथ्य को इस तरह से रखा गया कि बाजार का विकास तभी सम्भव है जब मानव मात्र का अस्तित्व हो और उसकी क्रय शक्ति बनी रहे। राष्ट्र राज्यों के विघटन होने की प्रक्रिया और बाजार के व्यापक से व्यापकतर होने की परिघटना ने इस बात की जरूरत पैदा की कि उन लोगों को केन्द्र में लाया जाये जो अब तक हाशिये पर जीने को मजबूर थे। इस पूरी प्रक्रिया में मीडिया फिर से अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व बना पाने से रह गई। वह हमेशा ही उस पलड़े में जाने को लालायित रही जो ज्यादा भारी था। मीडिया की इस ढुलमुल सी स्थिति ने न सिर्फ उसके स्वतंत्र अस्तित्व को उभरने से रोका बल्कि उन अपेक्षित सामाजिक प्रक्रियाओं और घटनाओं को भी दबा दिया जिनके पनपने की पहली और अनिवार्य शर्त थी कि मीडिया अपने स्वतंत्र रूप को प्राप्त करे।

उत्तर–उपनिवेशवादी दुनिया में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बात जिस तरह बार–बार की गई उसने आधी सदी के समयांतराल में एक सपने का रूप धारण कर लिया। इस रूमानियत को बाजार ने अपने तर्कशास्त्र के जरिये पकड़ा और स्वतंत्रता की एक अलग पहचान दी। एक कार के विज्ञापन में एक महिला यह बताती है जब उसके हाथ स्टेयरिंग ह्वील पर होते हैं तो वह अपने आप को ज्यादा 'स्वतंत्र' महसूस करती है। एक बार फिर से किसी वर्ग विशेष की रूमानियत और तकलीफों की अभिव्यक्ति करने का ठेका अन्य संस्थाओं ने हथिया लिया। ऐसी स्थितियां एक नयी तरह की भू–गर्भीय प्रक्रियाओं का निर्माण कर रही हैं, चूंकि आम तौर पर ज्वालामुखी फटने से पहले हमें भी भू–गर्भीय प्रक्रिया का अन्दाजा नहीं होता और न ही यह अन्दाजा होता है कि लावा किस कमजोर हिस्से को भेदकर बाहर निकलेगा इसलिए इस नई तरह की बन रही स्थिति को भी तत्कालिक

तौर पर किसी परिवर्तनकारी घटना के संदर्भ में नहीं पकड़ा जा सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बात करें तो भी यह कोई नई स्थिति नहीं है कि दमन की घटनाओं की ओर से व्यवस्था आंख मूंद कर बैठी हो, अक्सर ऐसी प्रक्रियाएं अभिव्यक्ति के दायरे में तभी आती हैं जब कोई परिवर्तनकारी घटना घट जाती है। इस स्थिति की एक खासियत यह है कि इसमें बाजार और राज–तंत्र दोनों ही मीडिया का इस्तेमाल एक सेफ्टीवॉल्व की तरह कर रहे हैं। यहां हम जिस आधी सदी का जिक्र कर रहे हैं यह वही आधी सदी है जब मीडिया का विस्तार छपे हुए शब्दों से काफी आगे बढ़ा और दृश्यों ने अपना प्रभावकारी असर दिखाना शुरू किया। चित्रों और फिल्मों के मार्फत जिस संसार की रचना की गई वह ज्यादा 'सजीव' संसार लगने लगा। अब हमने उस आभासी दुनिया को भी अवचेतन मन में एक सजीव व सक्रिय मन का दर्जा दे दिया जिसकी रचना दृश्यों के जरिये की गई थी। अब हमारा (हाशिये के लोगों का) सारा आक्रोश उन दृश्यों द्वारा बनाई गई दुनिया पर ही टिकता चला गया। 20वीं सदी के अन्त तक आते–आते हमारे पास यह विकल्प आ गया कि हम किसी भी समय चैनलों को बदलकर एक दुनिया को समाप्त कर सकते थे और दूसरी दुनिया को रच सकते थे। दृश्यों की इस आभासी दुनिया ने हाशिये के लोगों की तकलीफों को ज्यादा 'सजीव' बना दिया। उनकी स्थितियां तो नहीं बदलीं लेकिन मनःस्थितियां बदल चुकी थीं और यह काम कर दिखाया मीडिया ने। जाहिर है उसने इस अर्थ में अपने आप को सत्ता तंत्र का सबसे बड़ा सेवक साबित किया।

मीडिया, बाजार और प्रायोजित बाजार

नोम चॉम्स्की ने 5 नवम्बर 2001 को दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में 'प्रबुद्धजनों' के एक समूह को सम्बोधित करते हुए अमेरिकी मीडिया पर एक के बाद एक नये मिथक गढ़ने का आरोप लगाया तो लोगों ने इसे बड़े सहज भाव से लिया। चौंकने का कोई कारण था भी नहीं क्योंकि मीडिया ने ऐतिहासिक तौर पर अपनी जो भूमिकाएं स्पष्ट की हैं, वह सत्ता तंत्र के ही ज्यादा नजदीक होती हैं। चाहे इस तंत्र की संरचना का आधार राजनैतिक हो या पूंजी। नोम चॉम्स्की का यह कथन एक अर्ध–सत्य सा लगता है। जब वह इस पूरे दुश्चक्र के पीछे सिर्फ पूंजीवादी शक्तियों की साजिश देखते हैं, मीडिया का इस्तेमाल एक औजार की तरह हमेशा से ही होता रहा है चाहे वह एक पूंजीवादी व्यवस्था की सत्ता संरचना हो, सामंतवाद का दौर हो, समाजवादी व्यवस्था हो या फिर कोई अन्य व्यवस्था। मीडिया न सिर्फ अपने आप को समकालीन राजनैतिक व्यवस्थाओं के अनुरूप ढालता है बल्कि वह नई बन रही व्यवस्थाओं को भी दुबारा पलट कर 'ऊर्जावान' बनाता है। राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था विशेष का मीडिया के उद्देश्यों पर प्रभाव तो पड़ता है किन्तु मीडिया की बुनियादी प्रकृति, निश्चित तौर पर इन व्यवस्थाओं से निरक्षेप होती है। अगर इसके ऐतिहासिक आयाम को देखें तो यह स्थिति और ज्यादा स्पष्ट होती है।

मीडिया सूचना पाने के साधन से ज्यादा सूचना देने का औजार रहा है। मुनादी करने वाला अपने सामंत का फरमान देता था और चल देता था। राजा नगाड़ों को बजवा कर अपनी प्रजा को इकट्ठा कर देता था। राज्य के नियंत्रण में स्थापित रेडियो स्टेशन और पूंजी की नियंत्रण में स्थापित किये गये प्रेस और टी.वी. चैनलों को बाद के उदाहरणों में शामिल किया जा सकता है। समय और साथ–साथ अपनी सूचना दूसरों तक पहुंचाने का मामला मानव समाज में इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि कोई भी तंत्र, चाहे वह

राजनैतिक हो या आर्थिक या कोई अन्य, इसके बगैर अपने को बनाये रख पाने की नहीं सोच सकता था। ताकत और सत्ता की रचना में इसका खास ध्यान रखा गया कि तंत्र या व्यवस्था विशेष के पास अपनी सूचनायें दूसरों तक पहुंचाने के कितने मजबूत साधन हैं। नतीजा यह रहा कि सूचनाओं को फैलाने वाला प्रत्येक तेज, हर व्यवस्था में एक उपतंत्र की तरह विकसित हुआ, और फिर धीरे–धीरे यह अपने आप में एक अलग तंत्र और अंततः एक सत्ता प्रतिष्ठान बना। इसी तंत्र को हमने बाद में मीडिया की परिचित संज्ञा में समेटा। जाहिर है कि जिस तरह से कोई भी तंत्र सर्वशक्तिमान नहीं होता उसी तरह मीडिया की भी अपनी तयशुदा सीमाएं हैं। इन्हीं सीमाओं से टकराने की कोशिश नयी तरह की संरचना को जन्म देती है। इन कोशिशों में एक तरफ समकालीन व्यवस्थाओं, खास तौर से विधायी व्यवस्था (कानून) के भीतर दरार पैदा करने की कोशिश की जाती है तो वहीं दूसरी ओर सृजन और सम्प्रेषण की नयी तकनीकों का विकास होता है। बी.बी.सी. के एकछत्र राज के विरुद्ध 1960 में एक पानी के जहाज पर कैरोलिन नाम का रेडियो स्टेशन बनाया गया जो कि ब्रिटेन में अभिव्यक्ति की तत्कालीन पाबन्दियों के विरुद्ध एक कोशिश तो थी ही इसके अलावा इस प्रक्रिया ने बाद के दिनों में बी.बी.सी. को बाध्य किया कि वह अपने स्वरूप को बदले। इस पूरी टकराहट में बी.बी.सी. का चरित्र बेशक बदल गया हो लेकिन यह एक बड़ी विडम्बना है कि बी.बी.सी. और कैरोलिन दोनों ही एक बड़ी व्यवस्था की उप–व्यवस्था थे न कि कोई स्वतंत्र माध्यम।

मीडिया के स्वतंत्र अस्तित्व का सवाल लगभग उतना ही पुराना है जितना अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल। कई बार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और मीडिया की स्वतंत्रता को एक–दूसरे का पर्यायवाची मान लिया जाता है जबकि मानव की अभिव्यक्ति और मीडिया दोनों ही दो अलग –अलग उद्देश्य को साधते हैं। इन दोनों में इतनी भी न्यूनतम समानता नहीं है कि हम इनके अलगाव को कुछ 'उदाहरणों' और 'वाक्यों' में समेट सकें। इसलिए जब हम मीडिया और खासकर उसकी स्वतंत्रता की बात करते हैं तो हमें यह ध्यान रखना होगा हम किसी भी तरह के निजी या व्यक्तिगत व्यवहार की स्वतंत्रता की बात नहीं कर रहे होते हैं, बल्कि एक सामूहिक और सामाजिक व्यवहार को बगैर किसी बड़े हस्तक्षेप के सम्पन्न हो जाने की बात कर रहे होते हैं। इसलिए जब मीडिया की चर्चा का आधार बिन्दु उसकी स्वतंत्रता से जुड़ा हो तो हमें उन संरचनाओं को विमर्श के केन्द्र में लाना

होगा जो अपने फैलाव की कोशिशों या फिर अपनी वर्चस्वशाली सामाजिक स्थिति की वजह से मीडिया को नियंत्रित करने की स्थिति में होती हैं। आज की तारीख में ऐसी ही एक संरचना बाजार है।

भारतीय संदर्भ में बात करें तो पाते है कि मीडिया ने पिछले एक दशक में अपने चरित्र को तेजी से बदला, राज्य का दुलार त्यागा और 'बाजार' से गलबहियां करने लगी। इस दौर में मीडिया की जो आलोचना की गई उसका बड़ा आधार यह था कि यह बाजार के हाथों का खिलौना बनकर रह गई। अव्वल तो ऐसा पहली बार नहीं हुआ कि मीडियाई कठपुतली की डोर एक बड़ी और ताकतवर व्यवस्था के हाथों में हो और दूसरे मीडिया और 'बाजार' के जिन सम्बन्धों की आलोचना की गई उनका कोई मूर्त अस्तित्व ही नहीं हो सकता क्योंकि बाजार नाम की संस्था को विकृत करके एक तरह से 'प्रायोजित बाजार' को खड़ा किया गया है। इस 'प्रायोजित बाजार' के किसी भी 'व्यवहार' या 'सम्बन्ध' को बाजार का 'व्यवहार' या 'सम्बन्ध' नहीं कहा जा सकता है। आगे बढ़ने से पहले बाजार और प्रायोजित बाजार के फर्क को समझना ठीक रहेगा।

बाजार और प्रायोजित बाजार

मानव समाज के उस संस्थागत स्वरूप को सामान्य तौर पर 'बाजार' कहा जाता है जिसके द्वारा समाज में वस्तुओं और सेवाओं का आवश्यकतानुसार विनिमय तथा वितरण किया जाता है ताकि लोगों को अपनी सेवाओं और उत्पाद के बदले अन्य सेवाओं और उत्पाद का विकल्प मिल सके। जबकि 'प्रायोजित बाजार' प्रायोजकों को अधिक से अधिक फायदा पहुंचाने के एकमात्र उद्देश्य के तहत बाजार की व्यवस्था में बाजारू ताकतों द्वारा लाई गई संस्थागत विकृति का परिणाम है। इस तरह के प्रायोजित बाजारों में उन वस्तुओं और सेवाओं को पुरजोर तरीके से महिमामंडित किया जाता है जिनके उत्पादन, बिक्री इत्यादि से एक खास 'बाजारू वर्ग' अधिक से अधिक लाभ उठा सके। समाज की मौलिक आवश्यकताओं वाले सामान्य बाजार के मुकाबले में कृत्रिम आवश्यकताओं वाले प्रायोजित बाजार की यह मजबूरी है कि वह ग्राहकों को वैचारिक भ्रम में पहुंचाने की कोशिश लगातार करता रहे। ऐसी ही कोशिशों के परिणामस्वरूप हमें कुछ अनुष्ठान देखने को

मिलते हैं जैसे व्यापार मेला, विज्ञापन, सुंदरी चुने जाने का आयोजन, मॉडल बनने का पेशा, फैशन डिजाइनिंग एवं गुटका संस्कृति जैसे बाजारी कृत्य देखने को मिलते हैं। वैचारिक भ्रम खड़ा करने वाले इन अनुष्ठानों के पूरक के तौर पर मीडिया एक नियमित प्रक्रिया भी चलाती है।

प्रायोजित बाजार की एक आम बात यह होती है कि उसके द्वारा परोसी गई वस्तुओं की कीमत के निर्धारण का उसकी उपयोगिता अथवा उस पर लगने वाले श्रम से कुछ लेना–देना नहीं होता है। बल्कि वस्तुओं और सेवाओं की कीमत को तय करने में सबसे अहम बात यह हो जाती है कि उसके उत्पादन तथा बिक्री से जिस वर्ग को फायदा पहुंच रहा है उसका बाजार पर कितना नियंत्रण है। आलू के उत्पादन में लगा श्रम आलू को चिप्स में बदलने में लगे श्रम से कहीं अधिक होता है तो क्या कारण है कि पांच रुपये किलो का आलू रैपर चढ़ते ही पचास रुपये किलो का हो जाता है। फैशन दुनिया की 'मॉडल' बाजार के ज्यादा नजदीक होती है जबकि स्कूल शिक्षिका आम समाज के। उनकी सेवाओं का मूल्य इसी कुट सत्य का दूसरा पहलू है।

अतार्किक और अवैज्ञानिक तरीके से कीमतों के निर्धारण से शुरू हुई यह महामारी एक सामाजिक टूटन का सूत्रपात करती है जिससे समाज के विभिन्न अंग, व्यक्ति, संस्था, मीडिया (यहां तक कि राष्ट्र भी), अपने आपको इस प्रायोजित बाजार से जोड़ने की कोशिश करने लगते हैं। इस प्रक्रिया में वे अपनी मौलिक सामाजिक चेतना खोकर अपने आपको इस कृत्रिम बाजार की आवश्यकता के मुताबिक ढालना शुरू कर देते हैं, ताकि वे इसका हिस्सा बन कर कम मेहनत में अधिक फायदा उठा सकें। यह स्थिति इनका एकमात्र उद्देश्य प्रायोजित बाजार की इस व्यवस्था को बनाये रखने की होती है। यही कारण है कि दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स जैसी संस्थाओं से निकले अर्थशास्त्रियों को वॉल स्ट्रीट की दीवार में आई दरार से अपना घर गिर जाने का डर सताता है और रंगे जाते हैं मीडिया के पन्ने–दर–पन्ने। इस आयातित संस्कृति के असर से समाज के बाकी तबके भी देर तक अछूते नहीं रहे हैं। इसका प्रभाव अब विचार, कल्पना, पसंद, भावना, संवेदना जैसे नितांत निजी मामलों में भी देखने को मिलता है। मीडिया के इसी प्रभाव का असर है कि आज हमें बिल गेट्स के कुछ डॉलरों के नुकसान पर घोर चिंता होती है (2001 में माइक्रोसॉफ्ट की टूटती और बिगड़ती स्थिति से भारतीय मीडिया काफी चिंतित था) जबकि सरदार सरोवर में डुबाये जा चुके अपने

'घर संसार' को पुनः बसाने में लगे आदिवासियों की कोशिशें विकास के विरुद्ध लगती हैं।

व्यक्तिगत स्तर पर मीडिया के जरिये जिस काम को प्रायोजित बाजार मानसिक दबाव बना कर करता है उसी काम को राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक नियंत्रण द्वारा सरेआम किया जाता है। ऐसी स्थिति में मीडिया या तो इनका साथ देता है या खामोश रह जाता है। तीसरी दुनिया के मुकाबले विकसित राष्ट्रों की मुद्राओं को मजबूत कहा जाता है तो इसका बड़ा कारण है कि मुद्रा को मजबूत या कमजोर करने वाली संस्थाओं पर विकसित राष्ट्रों की पकड़ तीसरी दुनिया के देशों से ज्यादा मजबूत है। अर्थव्यवस्था का वह ढर्रा जिसमें इन राष्ट्रों ने कथित तौर पर अपनी स्थिति मजबूत बना रखी है, उसमें तीसरी दुनिया की आर्थिक संवेदना की भागीदारी नहीं के बराबर होती है। विख्यात अर्थशास्त्री और नोबेल पुरस्कार विजेता मिल्टन फ्रीडमैन ने सितंबर 1997 में 'अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष' को बंद करने का सुझाव दिया था। उनका मत था कि विकासशील राष्ट्रों को ऋण प्रदान करने में अपनी शर्तों से उनकी अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक अंकुश लगाकर मुद्रा कोष ने उनकी आत्मनिर्भरता को नष्ट किया है। इन संगठनों और विकसित देशों ने तो बाजारीकरण के आगे तमाम मानवीय और सामाजिक आदर्शों को ताक पर रख दिया है। गैट समझौते में तो साफ–साफ जिक्र है कि घरेलू आवश्यकताओं के न होते हुए भी सदस्य देशों को अनिवार्य रूप से अपनी–अपनी घरेलू खपत की तीन से पांच प्रतिशत खाद्यान्न का आयात करना ही होगा। वर्ष 1996–97 में 37 करोड़ डालर के हथियारों की बिक्री के लिए परमाणु प्रसार को रोकने वाले प्रेसलर संशोधन को वहां की सरकार द्वारा ब्राउन संशोधन द्वारा कुंद किया जाना अमेरिका की सशक्त जनतांत्रिक जनता के मुंह पर बाजार का एक जोरदार तमाचा था। लेकिन ऐसे तमाचों के दर्द को बढ़ते व्यापार के मोह में भुला देने की प्रक्रिया को तेज कर देने जैसा काम मीडिया का एक आम चरित्र रहा है।

मीडिया कर्मियों को यह समझना होगा कि मीडिया को बाजार के दर्शन पर चलाना है या प्रायोजित बाजार की राजनीति पर। बाजार की दक्षता को लगातार कम करने वाले 'प्रायोजित बाजार' नाम के इस बाजारी कोढ़ को दूर करने के प्रयास नहीं किये तो बाजार के संस्थागत रूप का विनाश होना तय है। एक स्वस्थ बाजार का विकास न सिर्फ समाज की आवश्यकता है बल्कि यह आवश्यकता उन बाजारी ताकतों की भी है जो

मूढ़तावश सोने के अंडे देने वाली मुर्गी को एक बार में हलाल कर सारे अंडे पा जाना चाहते हैं।

'प्रायोजित बाजार' की चर्चा करने के पीछे हमारा तर्क यह है कि बाजार मानवीय आवश्यकताओं और व्यवस्थित विमर्श से हुए प्रयासों के बीच पनपी हुई एक संस्था है, जो किसी भी तरह से समाज के किसी अन्य निजी या सामूहिक व्यवहार का अलोकतंत्रीकरण करने से हिचकेगी। यह एक तरह की वैचारिक जल्दबाजी होगी कि मीडिया के किसी भी ऐसे बदलाव के लिए जिसका जुड़ाव आर्थिक क्रियाओं से हो, बाजार को दोषी ठहरायें, यद्यपि आर्थिक और व्यापारिक नीतियों में आये बदलाव मीडिया तंत्र को गहरे तौर पर प्रभावित करते रहे हैं। लेकिन यह प्रश्न एक बार फिर से सत्ता की प्रकृति से जुड़ता है कि 'बाजार', जो अपने आदर्श रूप में एक संस्था की तरह कार्य करने के लिए उत्तरदायी है, किस प्रकार मीडिया को जनविरोधी बनाता है या बनाने की कोशिश करता है।

भारत के लिए 20वीं सदी का अन्तिम दशक इस मायने में एक महत्त्वपूर्ण दौर था कि इस दौर में यहां के सत्ताधारी वर्ग ने अपनी आर्थिक नीतियों में खासा बदलाव किया। 'उदारीकरण', 'वैश्वीकरण' और 'निजीकरण' इसी बदलाव के चर्चित नाम हैं। जैसा कि हर बदलाव के साथ होता है इसके साथ भी होना था और हुआ। इस पूरे दौर में भारतीय मीडिया ने भी अपनी करवट बदली।

शरद जोशी से शिल्पा शेट्टी तक

व्यवसाय के लिहाज से 90 का दशक मीडिया कर्मियों के लिए कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण दशक था। इस दशक के दरमियान आर्थिक तंत्र में जिस परिवर्तन की घोषणा की गई उस बदलाव की वजह से बहुत–सी ऐसी सामाजिक गतिविधियां शुरू हुईं जो कि अपने चरित्र और संरचना की बदौलत 'मीडिया' का आभास देती थीं। इसलिए इस तरह की प्रक्रियाओं में वैसे लोगों को व्यापक पैमाने पर जोड़ा गया जिनके पास मीडिया में काम करने का अनुभव था। इस परिवर्तन को बगैर किसी लाग–लपेट के सामाजिक मान्यता मिल गई तो उसका बड़ा कारण था कि मीडिया का आभास कराने वाली इन प्रक्रियाओं में जिन व्यक्तियों को जोड़ा गया था वे अपने निजी इतिहास में

मीडियाकर्मी होने का दर्जा पा चुके थे। यहां इस बात पर गौर किया जाना जरूरी है कि एक मीडियाकर्मी जब अपने पुराने व्यवसाय को छोड़कर इन नई गतिविधियों की तरफ बढ़े तो वे अपने निजी 'कौशलों' के बजाय अपने निजी 'संबंधों' का व्यापारिक उपभोग करने लगे। यह पूरा मामला एकदम से खुलकर समझ में आने लगता है जब हम हिन्दी के एक अखबार 'नवभारत टाइम्स' के बदलते हुए चरित्र पर एक नजर डालते हैं। नवभारत टाइम्स का यह बदलाव अपने भाव में जहां बदली हुई परिस्थितियों का द्योतक था वहीं वह फिर से इन स्थितियों के बदलाव को और ज्यादा त्वरण दे रहा था।

90 के दशक की शुरुआत में नवभारत टाइम्स की जो आन्तरिक संरचना थी वह कुछ इस प्रकार की थी। यह एक राष्ट्रीय स्तर पर छपने वाला बड़ा अखबार था। इसके मुख्य सम्पादक राजेन्द्र माथुर हुआ करते थे। यह अखबार अपनी तीखी संपादकीय टिप्पणियों के लिए दिन–प्रतिदिन ज्यादा मशहूर होता जा रहा था। लोग मंगलवार के मंगलवार अखबार का पहला पेज खोलने से पहले सम्पादकीय पृष्ठ खोला करते थे (इस दिन राजेन्द्र माथुर का सम्पादकीय लेख छपता था)। एक बड़ा वर्ग ऐसा भी था जो अखबार लेते ही उसे पलटता था और आखिरी पन्ने की बायीं ओर के ऊपर कोने में छपा हुआ कॉलम पढ़ता था। यहां छपते थे शरद जोशी 'प्रतिदिन'। यह वही दौर था जब सुरेन्द्र प्रताप सिंह जैसे पत्रकार नवभारत टाइम्स में काम किया करते थे। बदली राजनैतिक और आर्थिक घटनाओं ने अखबार के स्वरूप को भी प्रभावित किया। जहां शरद जोशी के व्यंग्य छपा करते थे कुछ ही वर्षों में ठीक उसी जगह शिल्पा शेट्टी (फिल्म अभिनेत्री) इत्यादि की तस्वीरें छपनी शुरू हुईं और साथ में शीर्षक लगा 'जिसकी टांगें लम्बी उसकी...' (दस दिसंबर 1997, नवभारत टाइम्स)। शरद जोशी की जगह शिल्पा शेट्टी का आ जाना महज एक व्यावसायिक और आर्थिक सवाल नहीं था बल्कि वह उससे कहीं ज्यादा एक भावनात्मक और राजनैतिक सवाल भी था। नवभारत टाइम्स की ओर वैचारिक टकटकी लगाये एक पूरे समुदाय के लिए उसका यह परिवर्तन एक तरह का भावनात्मक और राजनैतिक छल था जिसका हिसाब–किताब किसी भी तरह से हमारी दण्ड संहिताओं के आकलन से बाहर था। इसी बीच घटी एक और घटना पर गौर किया जाये। एक तरफ नवभारत टाइम्स का चरित्र बदल रहा था, दूसरी ओर इसी अखबार के एक तेज–तर्रार पत्रकार एस.पी. सिंह ने अखबार छोड़ा

और दूरदर्शन पर 'आज तक' की खबरें बताने लगे। यह सवाल यहां महत्त्वपूर्ण तौर पर उठता है कि एक सम्पादक की किस प्रतिभा का इस्तेमाल ये टी.वी. कार्यक्रम करना चाह रहे थे। जाहिर है, ऐसे में 'आज तक' को अपना रूप-रंग खबरबाज की तरह का दिखाने के लिए एस.पी. सिंह के सम्पादन कौशल से ज्यादा उनकी हैसियत, पहचान और उनके सम्बन्धों की जरूरत थी। क्योंकि इन कार्यक्रमों (चैनलों) ने अपने लिए बाजार तो खड़ा कर लिया था, लेकिन 'कच्चे माल' के रास्तों की जानकारी केवल 'पुराने श्रमिकों' को ही थी।

आर्थिक दृष्टिकोण से यह बदली हुई दुनिया काफी लुभावनी लग रही थी लेकिन संक्रमण का यह काल उन पत्रकारों के लिए बहुत भारी पड़ा जिनके दिलोदिमाग में पत्रकारिता के कुछ मूल्य अब भी बचे हुए थे। यह महज इत्तफाक नहीं है नवभारत टाइम्स से जुड़े हुए तीन बड़े पत्रकार- राजेन्द्र माथुर, शरद जोशी और एस.पी. सिंह एक छोटी-सी अवधि में, उदारीकरण शुरू होने के कुछ ही वर्षों के भीतर, मर जाते हैं। वैचारिक स्तर पर जो अन्तर्द्वन्द्व हुआ उसका खामियाजा इन पत्रकारों ने जान देकर चुकाया। यहां इनका मरना हमें नजर आया, लेकिन ऐसी हजारों मौतें हुईं जो शायद जैविक स्तर पर इस कदर सामने उभर कर न आयी हों लेकिन चलती हुई सांसों के बावजूद कई पत्रकार मर रहे थे। इस संक्रमण ने पत्रकारिता को जड़ तक प्रभावित किया।

नवभारत टाइम्स अपने आप में एक रूपक है जो कि पत्रकारिता में आये बदलाव को काफी कुछ अभिव्यक्त करता है। पत्रकारिता के बदलाव को ज्यादा गहरे स्तर पर समझने के लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम उसकी भाषा में आये बदलाव को सामाजिक संदर्भों में परखें। इसके पहले की चर्चा में हमने देखा था कि भाषा के रूपों का चयन यह तय कर देता है कि क्या अभिव्यक्त होगा और किसके लिए अभिव्यक्त होगा। नवभारत टाइम्स ने 'पॉपुलर' भाषा के नाम पर जिस भाषा का चयन किया वह किसी भी तरह से एक बड़े समुदाय और उसके संघर्षों की भाषा नहीं थी, बल्कि यह भाषा उस वर्ग की तुतलाहट थी जो बहुत तेजी से समोसे की जगह केक और सैन्डविच खाना सीख रहा था, जो घूमने के लिए अपनी शाम किसी रेस्तरां में गुजारने का ख्वाहिश रखता था, और बिकाऊ मूल्यों को अपनाने को अपनी प्रगति का पर्याय समझता था। भाषा को उसकी अभिजात्यता से मुक्त कराना और एक बड़े संघर्षशील वर्ग की भाषा बनाना एक बात है

और भाषा का सांस्कृतिक प्रदूषण कर उसे इतना छिछला बना देना कि संघर्ष का कोई विचार उसमें आये ही नहीं, बिल्कुल दूसरी बात है। इस मायने से देखा जाये तो नवभारत टाइम्स ने अपनी भाषा में जिन बिकाऊ अवयवों को घुसाना शुरू किया उस पूरी प्रक्रिया ने इस पत्र की उस बची-खुची चेतना का भी अन्त कर दिया जो हाशिये के लोगों की तकलीफों और संघर्षों को बयां कर सकती थी।

मीडिया की इस बाजारू प्रकृति से अलग हटकर अगर हम इन प्रक्रियाओं के बीच मीडियाकर्मियों द्वारा अपनाये जाने वाले प्रचलित व्यवहारों पर गौर करें तो पाते हैं कि इनमें सफल (ज्यादा पैसा कमाने) होने को लेकर एक बड़ी जल्दबाजी होती है। इन बाजारू प्रवृत्तियों की वजह से ही मीडिया में भी 'प्रायोजित बाजार' की संरचना उठ खड़ी होती है। पत्रकारिता के सम्बन्ध में जब हम बात करते हैं तो यह बात विशेष तौर पर ध्यान रखनी चाहिए वह समूह जो पत्र खरीदता है उसका इरादा अपने आप को समाज में चल रहे विमर्श से जोड़ने का होता है न कि कोई अन्य मनोवैज्ञानिक कारण। कुछ अर्सा पहले एक अध्ययनकर्त्ता ने जब एक सर्वे करके बीस ऐसे लोगों से यह जानना चाहा कि वे अंग्रेजी के एक अखबार को छोड़ कर वे दूसरा अखबार क्यों पढ़ने लगे तो विभिन्न स्तरों पर जो उत्तर मिले उसका लब्बोलुबाब यह था कि यह अखबार अपने पाठकों के वैचारिक स्तर का लगातार उपहास उड़ाता रहता है। इस परिघटना को और व्यापक रूप में देखे जाने की जरूरत है। दरअसल यह मान्यता कि अखबारों में हल्की और अश्लील सामग्री देकर आप उनकी प्रसार संख्या बढ़ा लेंगे यह असत्य न भी हो तो अर्द्धसत्य तो जरूर है। यहां एक व्यावसायिक सवाल यह भी उठता है कि अखबार के नाम पर चलने वाली संस्था की अपनी निजी जिम्मेदारियां क्या बनती हैं?

अखबार और बाजार ये दोनों अलग-अलग संस्थाएं हैं और दोनों की दक्षता तब सबसे ज्यादा होगी जब वे अपने संस्थायी उद्देश्यों के मध्य कार्य कर रही होंगी क्योंकि इन उद्देश्यों का निर्धारण ऐतिहासिक स्थितियों ने किया है। क्षणिक तौर पर इन उद्देश्यों से हट जाना बेशक लाभदायक लगे लेकिन एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में यह कोई लाभदायक प्रक्रिया नहीं रह जाती है क्योंकि हम देखते हैं कि वह दौर विस्तार और गुणवत्ता के लिहाज से पत्रकारिता का बेहतरीन दौर था, जब उसने अपने-आप को समाज के वृहत्तर वर्ग और उसके संघर्षों से जोड़कर प्रस्तुत किया। खासतौर से 60 के

दशक में हिन्दी पत्रकारिता में जो उभार देखने को मिला था वह इस कारण था कि पत्रकारिता ने अपने आप को समकालीन राष्ट्रीय भावनाओं के उभार से काफी गहरे स्तर पर जोड़े रखा था। यह बात उस समय की अंग्रेजी पत्रकारिता नहीं दिखा पायी इसका असर अगले पन्द्रह–बीस वर्षों तक देखते हैं। इस असफलता की वजह से अंग्रेजी पत्रकारों के एक बड़े वर्ग ने पलायन का रास्ता चुना तो दूसरी ओर खुशवंत सिंह जैसे बड़े पत्रकारों ने महिलाओं के शरीर के विवरण और उनसे अपने सम्बन्ध के लेखन को अपने जिन्दा रहने का आधार बनाया।

पत्रकारिता के मूल्यों के प्रति आस्था का सवाल वैचारिक आग्रह या सामाजिक जटिलताओं से जुड़ा हुआ सवाल तो है ही लेकिन वह उससे भी ज्यादा इस बात से जुड़ता है कि अगर आप बहुचर्चित 'बाजार' के बीच में भी जगह बनाना चाहते हैं तो भी इन मूल्यों को बुनियादी तौर पर स्वीकार करके ही चलना होगा। मीडिया और अखबार दर्शकों और पाठकों में नये रूझान पैदा कर सकते हैं लेकिन हाल के दिनों में यह समझ नकारात्मक तौर पर ही काम करती हुई दिखी।

ग्लैडिएटरों के अखाड़े

राजस्थान में पानी की कमी का दृश्य फिल्माने के लिए पत्रकारों की एक टोली जब वहां पहुंची तो उनके पास वहां करने को काफी कुछ था। लेकिन ये पत्रकार, मीडिया की 'तकनीकी खूबियों' से अच्छी तरह वाकिफ थे, इसलिए किसी ऐसे दृश्य की तलाश में थे जो इनकी रिपोर्ट को पूरा करती। वहीं पास में उन्हें एक गाय बेसुध दिखायी पड़ी जो पिछले कई दिनों से प्यासी थी, और पानी के अभाव में दम तोड़ रही थी। गाय के शरीर में कोई भी हरकत नहीं हो रही थी और हमारे पत्रकारों के कैमरे की आंख उस मरती हुई गाय पर टिकी हुई थी। लेकिन यह दृश्य अपने आप में वर्तमान दर्शकों की 'चाहतों' को पूरा करने योग्य नहीं बन पा रहा था। मीडिया को चाहिए ऐसे दृश्य जो दर्शक के हाथ में पड़े हुए रिमोट को रोक सकें। इसके बाद उस टोली के एक पत्रकार ने एक नया 'आइडिया' दिया। उन्होंने अपनी बिसलरी की बोतल में से कुछ बूंद पानी निकाल कर गाय के मुंह पर छींटे मारे। इन छींटों को लपकने के लिए गाय ने बहुत तेजी से छटपटाना शुरू

किया, दृश्य कैमरे में कैद हुआ और रिपोर्टिंग पूरी हुई। यहां मामला सिर्फ यह सूचना भर देने का नहीं था कि राजस्थान में पानी का घनघोर अभाव है या पानी के अभाव का क्या मतलब होता है बल्कि इस तकलीफ को कुछ ऐसे दृश्यों में बांध कर दिखाने का था ताकि ड्राईंगरूम में बैठे दर्शक, उस 'रोमांच' को महसूस कर सकें जो किसी मरते हुए प्राणी को देखकर होता है। अपने–आप यह कोई नई या अनोखी घटना नहीं है। पहले के समाजों में भी इस तरह की प्रक्रियायें देखने को मिलती हैं जहां एक वर्ग के पास सुविधा की तमाम चीजें होती हैं और वह अपने मनोरंजन के लिए नित्य नये रास्ते तलाशता है। वह बार–बार ऐसी कोशिश करता है कि उसकी इन्द्रियों को कई अलग–अलग तरह के 'सुखों' का अनुभव हो।

अपने वैभव की चरम सीमा पर पहुंचे रोम साम्राज्य को देखें तो ऐसे उदाहरणों के क्रूरतम स्वरूप देखने को मिलते हैं। रोम साम्राज्य में एक तरफ रईस रोमन नागरिक अपनी जिन्दगी जीते हुए उपभोग के नये–नये तरीकों को ईजाद करते थे तो दूसरी तरफ हजारों की तादाद में गुलाम उनके उपभोग को पूरा करने की कोशिश करते थे। ये गुलाम उनकी जरखरीद सम्पत्ति हुआ करते थे। इसी साम्राज्य में यह उदाहरण देखने को मिलता है, जहां उपभोग और विलासिता का मामला शरीर की सीमाओं से बाहर चला जाता था। लोग पहले खाते थे, पेट भर जाने के बाद दवाईयां खाकर उस खाने को मलमूत्र के रूप में शरीर से जबरदस्ती बाहर करते थे, और फिर खाते थे। इस समाज की संरचना ही कुछ ऐसे की गई थी कि एक छोटा–सा वर्ग अधिक से अधिक उपभोग करे। वहां की तमाम गतिविधियां उस छोटे से कुलीन वर्ग को ध्यान में रखकर तय होती थीं।

इसी रोम साम्राज्य में एक खास तरह का सामाजिक पाखण्ड होता था। इन कुलीनों के लिए एक विशेष तरह की कुश्ती का आयोजन किया जाता था। इस कुश्ती में दो ग्लैडिएटर (गुलाम लड़ाके) आमने–सामने हुआ करते थे। ये ग्लैडिएटर भी रोम साम्राज्य के गुलामों में से चुने जाते थे जिनको विभिन्न अखाड़ों के मालिक 'पालते' थे। ग्लैडिएटरों की कुश्ती उस समाज में एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय बन कर उभरी। इस कुश्ती का क्रूरतम पक्ष यह होता था कि इस कुश्ती के बाद सिर्फ एक ग्लैडिएटर जिन्दा बचता था और दूसरा जो हारता था, वह मर जाता था पहले के हाथों। मौत का यह क्रूरतम दृश्य उस समय के विलासी रोम साम्राज्य के 'नागरिकों' को काफी लुभाता था। यही कारण है कि कई बार इन ग्लैडिएटरों की कुश्ती में जितने

लोग इकट्ठे होते थे वह उस शहर या कस्बे की आबादी से भी ज्यादा होते थे। आखिर क्या था इस कुश्ती में जो तत्कालीन रोम नागरिकों को इतना अधिक लुभाता था! किसी मरते हुए इंसान को देखना, उसका छटपटाना, अपनी जिंदगी को बचाने के लिए आखिरी जद्दोजहद करना। यह सब कुछ देखना एक तरह की मानसिक लत बन गयी थी उस समय की और उन लोगों की।

इस तरह की मनोविकृति का इतिहास रोम साम्राज्य के साथ समाप्त नहीं होता है एक सुविधाभोगी समाज को लगातार ऐसी अमानवीय चीजों का उपभोग करने की ख्वाहिश बनी रहती है। गुजरात में भूकंप के दृश्य को फिल्माने वाली कैमरा टोली उस बच्चे का इंटरव्यू ले रही थी जिसका आधा शरीर मलबे में दबा हुआ था। देर तक मलबे में दबे रहने की वजह से उसकी टांग कट गयी। कई बार इस तरह के दृश्यों को फिल्माने और कैद करने को महज अपने व्यवसाय की वरीयता कहकर टाल दिया जाता है लेकिन कभी उन कारणों की तह तक नहीं पहुंचने की कोशिश की जाती जिस वजह से इस तरह के दृश्यों को फिल्माने की बाध्यता बढ़ती है। यह रोग कई बार इतना ज्यादा बढ़ जाता है कि ऐसे दृश्यों की रचना कृत्रिम तौर पर किये जाने के षड्यंत्र रचे जाते हैं। तहलका का मामला पिछले दिनों जिस कदर उभरा और बाद में उससे जुड़ी हुई जो खबरें आयीं उन्होंने इस मामले की गंभीरता को तो समाप्त किया ही, इसके अलावा इस तथ्य को भी उभारने में कामयाब रहे कि मीडिया अब अपने आप में एक ऐसी संरचना के तौर पर विकसित हो रहा है जो खुद को बनाये रखने के लिए दृश्यों को कृत्रिम तौर पर रच सकता है।

तथ्य, सूचना और मार्केट वैल्यू

सूचना संसार का निर्माण भी 'रोम' की तरह एक दिन में ही नहीं हुआ। इस दुनिया को बनने और बनाने में हजारों वर्ष लगे और अरबों दिमाग। सभ्यता, समय के बनाये गये राजमार्गों पर चलती रही और इतिहास उसके पदचिन्हों को टोहता रहा। लेकिन इसी दरमियान ऐसी हजारों छोटी टोलियां भी सफर कर रही थीं जो किसी भी राजमार्ग पर चलने के बजाय तिरछे रास्तों, जंगलों और बीहड़ों में बनी हुई पगडंडियों पर चलती रही। यह दुर्भाग्य ही रहा कि

सूचना के जिस साम्राज्य को आज हम देखते हैं उसका शासन क्षेत्र तो उन पगडंडियों तक जाता है लेकिन इसकी पूरी की पूरी विकास योजना इन राजमार्गों को ही विकसित करने के लिए बनती रही है। वे तमाम ज्ञान, वे तमाम संघर्ष और वे तमाम घटनायें न तो सूचना बन पायीं, न ही बन रही हैं, जो इन पगडंडियों पर घटती रही थीं, या घट रही हैं। किसी तथ्य के सूचना बन जाने की प्रक्रिया एक सत्तागत प्रश्न है। यह प्रक्रिया इस बात को तय कर देती है कि सूचना के राजमार्ग पर भी उन्हीं लोगों का वर्चस्व होगा जो सभ्यता के राजमार्गों पर चलते रहे हैं।

मानक सत्ताई संरचना के संदर्भ में बात करें तो स्पष्ट है कि हर तथ्य सूचना नहीं होता। किसी भी तथ्य को सूचना के स्तर तक पहुंचाने के लिए उस तथ्य के साथ–साथ एक समूह, किसी न किसी तरह की बड़ी या छोटी सामाजिक या बाजारू कवायद करता है। कवायद की यही प्रक्रिया तय करती है कि कौन–सा तथ्य सूचना होगा और किस सूचना की मारक क्षमता क्या होगी। किस तथ्य को मीडिया की भट्ठी में कितनी देर तक पकाया गया है – यह उस सूचना की 'विश्वसनीयता' का पैमाना बनता है। तथ्य के सूचना बनने की यह पूरी प्रक्रिया इस बात को भी प्रतिबिम्बित करती है कि सत्ता की राजनीति में कौन–सा वर्ग–समूह, कौन–सी करवट ले रहा है। बहुधा यह प्रक्रिया उस विराट ऐतिहासिक मंथन के जड़त्व से नियंत्रित होती है जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी सामाजिक संवादों के जरिये हमारे मानस का हिस्सा बनते हैं। इसे तय करने में समूह के लोग नियंत्रण के अदृश्य धागों का इस्तेमाल करते हैं, जिसे आगे के उदाहरण में देख सकते हैं।

डायना की मौत – एक तथ्य था (इग्लैंड के राजघराने की बहू डायना एक कार दुर्घटना में मारी गयी– बाद के कई हफ्तों तक यह खबर मीडिया पर छायी रही)। इस तथ्य को सूचना बनाने की पूरी प्रक्रिया पर गौर करें तो सत्ता संरचना के उन सूक्ष्म धागों का पता चलता है जो हमारे अवचेतन मस्तिष्क को जकड़े होते हैं। यह तथ्य ने जब सूचना का रूप लिया तो उसका स्वरूप कुछ इस तरह का था। एक उच्च मध्यवर्गीय लड़की का राजसी घराने की बहू बनना और अन्ततः 'शहीद' हो जाना। मीडिया की तमाम संवेदना एक मध्यवर्गीय सपने का प्रगटीकरण थी जहां जिन्दगी की सार्थकता राजघराने तक पहुंचने में है। जाहिर तौर पर यहां सत्ता का वह सूक्ष्म धागा 'मध्यवर्गीय सपना' ही है। रही–सही कसर तब पूरी हो गयी जब इस तथ्य का सूचनाई आकार बढ़ा और दुनिया को यह पता लगा कि इस

ब्रिटिश राजघराने की क्रिश्चियन बहू का एक मुसलमान प्रेमी भी था। इस समय क्रिश्चियन समुदाय के लिए यह जरूरी हो गया कि वे तात्कालिक तौर पर डायना को 'अपनी' घोषित करें। वरना यह घटना मुस्लिम–क्रिश्चियन द्वन्द्व में क्रिश्चियन समुदाय के लिए एक सांस्कृतिक आघात साबित होता।

सत्ता का यह नियंत्रण किसी सदृश्य किस्म के निकाय, या निर्णय प्रक्रिया के तहत सम्पन्न नहीं होता है बल्कि यह एक बड़ी ही अदृश्य किस्म की प्रभावकारी ताकत होती है। अगर मनोवैज्ञानिक लहजे में बात करें तो कह सकते हैं कि हमारी गतिविधियां चेतनशील मस्तिष्क का निर्णय मात्र नहीं होतीं। मानवीय गतिविधियों के नियंत्रण में अवचेतन मस्तिष्क का भी पूरा योगदान होता है। लेकिन साथ ही यहां यह स्पष्ट करना जरूरी है कि यह पूरी प्रक्रिया महज मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मात्र ही नहीं है बल्कि यह उससे कहीं ज्यादा एक राजनैतिक संरचना भी है। तमाम राजनैतिक संरचनाओं की तरह इस पर भी काबिज होने या फिर कई बार इसे अपने पक्ष में मोड़ने की कोशिशें होती रहती हैं। बहुधा यह सत्ता संरचना अपने आर्थिक और राजनैतिक नियंत्रण–कर्ताओं से इतर अपनी प्रकृति के मुताबिक कार्य करती है। या फिर यूं कहना ज्यादा उचित होगा कि इसका नियंत्रण राजनैतिक तरीके से नहीं किया जा सकता है। यह स्थिति उस समय बड़ी साफ–साफ दिख रही थी जब सितम्बर 11, 2001 को वर्ल्ड ट्रेड टॉवर को एक आतंकवादी हमले में गिरा दिया गया।

वर्ल्ड ट्रेड टॉवर को गिरते हुए सारी दुनिया ने देखा – यह बात यकीनी तौर पर कही जा सकती है कि टॉवर गिरने की दहशत इतनी नहीं होती अगर दुनिया भर में फैले हुए टेलीविजन पर यह सब कुछ नहीं दिखाया जाता। मीडिया की इस प्रकृति से वे लोग बड़े जोरदार तरीके से वाकिफ थे जिन्होंने यह सब कुछ किया। सामरिक रणनीति के तौर पर यह घटना कभी भी एक सही और सटीक घटना नहीं मानी जा सकती कि आप आक्रमण करने के बीच में समय का फासला ज्यादा रखें। पहले टॉवर से हवाई जहाज का टकराना और लगभग बीस मिनट बाद दूसरे टॉवर से दूसरे हवाई जहाज का टकराना। इस फासले की वजह से कुछ मौतें बेशक कम हुई हों लेकिन यह अवसर टी.वी. चैनलों के लिए दिया गया था। इसी समयावधि में वहां मौजूद तमाम फोटोग्राफर और कैमरे की दुनिया से जुड़े लोग सतर्क हो गये। उन्हें वह अवसर मिला कि वे उस वीभत्स दृश्य को अपने कैमरे में कैद कर सकें। ऐसा इतिहास में पहली बार नहीं हुआ जब

मीडिया का इस्तेमाल एक दहशत के हथियार की तरह हुआ। यह दहशत इतनी ज्यादा थी कि वहां की हवाई कम्पनियां अगले कई हफ्तों तक ग्राहकों को टोहती फिर रहीं थीं।

वे तमाम टी.वी. कम्पनियां जो कि पश्चिम के नियंत्रण वाले देशों में थीं, वे सब की सब वह काम कर रही थीं जो कि उनके दुश्मन (वो आतंकवादी जिन्होंने टॉवर को गिराया) चाहते थे। अगर वे इतनी आसानी से दहशत को फैलाने में कामयाब रहे तो इसका बड़ा कारण यह था कि उन्होंने मीडिया की प्रकृति को पकड़ा और उसका इस्तेमाल किया। यह स्थिति धर्म के मर्म को समझकर राजनैतिक उन्माद पैदा करने वाली कोशिशों से बिल्कुल अलग नहीं थी। मीडिया की अन्तर्निहित प्रकृति ही इस बात का इंतजाम कर दे रही थी कि राष्ट्र और समूह की अवधारणा से हटकर मीडिया अपना खेमा खुद तय करेगी। चराग जिसके हाथ में होगा मीडिया का जिन्न उसका ही होगा। जाहिर है चराग वह 'निर्णायक घटना' होगी जो मीडिया की प्रकृति को प्रभावित कर सके। इस बार टॉवर को गिरा कर 'चराग' घिसा गया था। इस लिहाज से अगर हम मीडिया प्रसारित सत्ता तंत्र को पकड़ना चाहें तो हमें उसकी 'प्रकृति' पर खोजबीन करनी होगी।

मीडिया के विकास की यात्रा ही उसकी प्रकृति को तय करती चली गयी। सूचनाओं की जिस संरचना का विकास हुआ या किया गया उसने अपनी प्रकृति में उन तत्वों को समाहित किया जिनसे सत्तायी नियंत्रण स्थापित होते हैं। सूचना की इसी प्रवृत्ति को जब संज्ञा में रूपान्तरित किया गया तब उसका नाम दिया गया 'मार्केट वैल्यू'। किसी 'न्यूज' की मार्केट वैल्यू कितना ज्यादा है यह सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि वह सत्ता तंत्र को कितना ज्यादा प्रभावित कर सकने की स्थिति में है। इस पूरी प्रक्रिया ने ऐतिहासिक तौर पर वह स्थिति ला दी जब सूचना संसार ने बड़े ही मजबूत तरीके से एक नियंत्रणकारी 'दबाव' का निर्माण किया। यह 'दबाव' एक तरह का मनोवैज्ञानिक दबाव था जो व्यक्ति या फिर व्यक्तियों के समूह से एक अभीष्ट व्यवहार कर या करा पाने में सक्षम था। इस 'सूचना दबाव' का सबसे ज्यादा असर समाज के वंचित तबके पर पड़ा। अतः कह सकते हैं कि 'मीडिया' ने हमेशा ही 'सूचना दबाव' का इस्तेमाल करके पगडंडियों पर जीवन बसर कर रहे लोगों को राजमार्गों के इर्द–गिर्द खड़ा करने का काम किया है। यह उसकी प्रकृति हो या न हो लेकिन ऐतिहासिक तौर पर उसने यही भूमिका निभाई है। पगडंडियों से यात्रा करने वाले ये वर्ग

जब 'सूचना दबाव' की बदौलत राजमार्गों की ओर बढ़े तो उन्होंने पाया कि यहां पर उनकी भूमिका बग्घियों और रथों के रास्ते में आने वाले रोड़े–पत्थर को हटाने मात्र की है ताकि उनकी तेज रफ्तार जिन्दगी को और तेजी मिल सके। सूचना जगत ने राजमार्गों की जो सुहानी तस्वीर खड़ी की थी वह गलत तो नहीं थी लेकिन वह उनके लिए एक अर्धसत्य ही थी जिन्होंने अपने अनुभव जगत का खासा हिस्सा पगडंडियों पर गुजारा था। इन्हें न तो इन राजमार्गों के नियम–कानून पता थे, न ही उनके पास वे साधन थे जो इन राजमार्गों पर चल पाते। इनके उदाहरण को हम विकास के मानकीकृत ढांचों, मुख्य धाराओं, शहरीकरण, समाज के सिलेब्रेटी और उच्चवर्गों के वजूद में देख सकते हैं।

हमारे विश्वविद्यालय

बाजार का बतौर संज्ञा जिस तरीके से पिछले कुछ वर्षों में इस्तेमाल हुआ, खास तौर से मीडियाकर्मियों द्वारा, इसने इस बात के अवसरों को खत्म कर दिया कि समाज की कई बेहतरीन स्थितियों को बनाने या बचाये रखने में इस बाजार की क्या भूमिका थी या फिर हो सकती है। इस अध्ययन में हम जिस कालखण्ड का जिक्र शुरू से ही लगातार करते आये हैं, उसी कालखण्ड में बड़ी तेजी के साथ किताबों की एक पूरी की पूरी 'संख्या' विलुप्तप्राय हो गयी। ये परिघटना रूस के बिखरने के साथ शुरू हुई। रूस में छपी कई सस्ती किताबों की पूरी श्रृंखला देश भर में बिखरी हुए इसकी दुकानों पर मिलती थीं। गाहे–बगाहे रूस की उन किताबों को छोटी–छोटी जगहों पर मेला लगाकर भी बेचा जाता था। ये किताबें काफी सस्ती हुआ करती थीं जो कि देश के उस वृहत्तर समुदाय के पढ़ने की भूख को शांत करने का काम किया करती थीं जिनके पास पर्याप्त पैसा नहीं था।

जाहिर है कि यह सब कुछ रूस द्वारा अपने साम्यवादी विचारों को प्रसारित करने के लिए किया जाता था। यह स्थिति निश्चित तौर पर बाजारू विज्ञापनों से अलग तरह की थी। एक पीढ़ी ऐसी तैयार हुई जिसके किशोरावस्था के साथी बने माक्सिम गोर्की, फ्रयोदोर दोस्तोयव्स्की, तोलस्तोय, जॉन रीड....। इस पीढ़ी ने जब अपनी–अपनी किशोरावस्था को लांघ कर जवानी की दहलीज पर कदम रखा तब एक बार को ही सही, उसने उस

दुनिया को तलाशने की कोशिश की। लेकिन तब तक भारत का राजनैतिक मौसम वैश्विक चपेट में आ चुका था। उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रियायें तेजी से चल पड़ी थीं। युवाओं के इस वर्ग ने इस बदलती हुई दुनिया में जब अपनी जगह तलाशनी शुरू की तो उन्हें पता चला कि इनको जिस 'विश्वविद्यालय' में प्रशिक्षण दिया गया है, उसकी डिग्रियां इस बदल रही दुनिया में नकारा हो चुकी थीं। इसके बावजूद जीना तो था ही। 'साम्यवाद' पहले ही काफी बिक चुका था और इन युवाओं के पास बेचने के नाम पर वह साहित्य ही था जो कि अब बाजार में सीधे–सीधे उपलब्ध नहीं था। 'व्यवस्था' को जो चित्रकारी करनी होती है उसके लिए विरोध के रंग की भी जरूरत होती है। नतीजा यह हुआ कि इनमें से कुछ युवाओं को मीडिया में जगह मिलनी शुरू हुई। यूं भी उदारीकरण और निजीकरण अभी शुरू ही हुए थे और व्यवस्था में पुराने जड़त्व का असर अभी काफी कुछ बाकी था।

यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि रूस में छपी यह किताबें 'विरोध के प्रशिक्षण' का केवल एक हिस्सा मात्र थीं। ऐसी ही तमाम संरचनाओं में तत्कालीन समाज में मौजूद थीं जहां पर हमारे किशोरों को विरोध की शब्दावलियों से वाकिफ किया गया था जिनमें राजनैतिक आन्दोलन, पर्चों का लेखन, पोस्टरों का अस्तित्व इत्यादि तमाम चीजें शामिल थीं। बड़े सतही तौर पर ही सही हमारे फिल्म उद्योग ने भी इस तरह का प्रशिक्षण दिया। लेकिन नब्बे का दशक आते–आते ये तमाम प्रक्रियायें अपनी समाप्ति की ओर बढ़ चलीं। इसी दौर में फिल्म के रुपहले पर्दे पर से 'एंग्री यंग मैन' (अमिताभ) की विदाई हुई और 'स्मार्ट ब्वॉय' (शाहरूख खान) का प्रवेश हुआ। इस दौर में परिवर्तन की तीव्रता और उसका विस्तार काफी ज्यादा था। इसका असर हम समाज के उन हिस्सों तक में भी देख सकते हैं जो निहायत गैर–व्यवस्थित तरीके से बनता और बढ़ता है जैसे लुग्दी साहित्य।

'सुरेन्द्र मोहन पाठक' का नाम लुग्दी साहित्य में काफी सम्मान के साथ लिया जाता है। इनके उपन्यासों का एक मुख्य पात्र 'सुनील' है जो कि 'ब्लास्ट' नाम के एक अखबार का रिपोर्टर है। अस्सी के दशक में सुरेन्द्र मोहन पाठक के नाम से जो भी उपन्यास आये और 'सुनील' साहब उनमें मौजूद रहे तो उन्होंने अपनी एक चारित्रिक दृढ़ता को बनाये रखा। लुग्दी साहित्य के इस पात्र के अपने कुछ मूल्य थे। अपनी कुछ आस्थायें थीं। इस पात्र पर मरने वाली लड़कियां तो काफी थीं और यह पात्र भी इश्क और

आशिकी को समझता था। बावजूद इसके कोई ऐसा व्यवहार नहीं करता था जो एक पत्रकार के तौर पर उसे शोभा न देता हो। लेकिन नब्बे के दशक ने इस 'पत्रकार' को भी काफी गहरे स्तर पर प्रभावित किया। सुरेन्द्र मोहन पाठक के जो नये उपन्यास आये उनमें सुनील का चरित्र बिल्कुल बदल चुका था। अब वह किसी भी लड़की की बांहों में अपनी शाम गुजार सकता है। सुनील के इस बदलाव को न तो महज हम लुग्दी साहित्य मात्र का बदलाव मान सकते हैं न ही एक लेखक विशेष का। यह बदलाव एक युगीन परिवर्तन और उसके विस्तार को बता रहा है।

समाजीकरण की वह प्रक्रिया जिनसे आज का हमारा युवा पत्रकार निकला, उसका वर्तमान परिदृश्य पर इतना असर तो जरूर हुआ कि कुछ बातें अब मीडिया के अन्दरूनी विमर्श से बाहर चली गयीं। नब्बे के दशक में जो युवा, पत्रकारिता से जुड़े, वे अपने कैरियर के आरम्भ में भी 'आदर्शों' के प्रति निष्ठा नहीं बनाये रख सके। पच्चीस–तीस साल के युवा पत्रकारों ने अपनी छोटी–सी जिन्दगी में बहुत कुछ देखा। उन्होंने सतहत्तर के आन्दोलन से हताश अपने अग्रजों को देखा। चौरासी में देश भर में हुए कत्लेआम के अनुभव को भागीदारी के स्तर पर जाकर महसूस किया। मंडल के मामले में उसने हिस्सेदारी की, और बाबरी विध्वंस का मूकदर्शक बना रहा। संविधान में शामिल 'समाजवाद' का शब्द धरा का धरा रह गया और देश की तमाम बड़ी संस्थाओं (सर्वोच्च न्यायालय और संसद खास तौर से गरीबी के संदर्भ में) ने बेशर्मी का आखिरी पर्दा भी उतार फेंका। चूंकि विरोध के तमाम स्वर समाप्त हो चुके थे। इसलिए कोई भी जनविरोधी निर्णय लेने के लिए अब किसी आड़ की जरूरत नहीं थी। कई बार राजनैतिक विपक्ष को विरोध के स्वर का दर्जा देने वाली मीडिया ने कभी इस बात पर कोई बड़ी बहस नहीं चलायी कि क्यों भाजपा और कांग्रेस दोनों एक ही नीतियों को चला रही हैं।

माक्सिम गोर्की ने 19वीं सदी के आखिरी वर्षों में उस रूस के समाज को अपने विश्वविद्यालय का दर्जा दिया था जो परिवर्तन के लिए छटपटा रहा था। उस समय के संघर्षों और जीने मात्र के लिए की जा रही कोशिशों ने उन्हें काफी कुछ सिखाया था। जिन्दगी अपने आप में जिन विश्वविद्यालयों की रचना करती है वह अपनी अपनी संवेदना और समझ दोनों के स्तर पर काफी गहराई तक प्रभाव डालती है। ऐसी स्थिति में यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल हो जाता है कि हमारे आज के युवा पत्रकार किन–किन विश्वविद्यालयों से होकर गुजरे हैं। एक ओर प्रायोजित बाजार की ताकतें बढ़ती जा रही हैं,

दूसरी ओर पहले से स्थापित वे संरचनाएं जो कि पत्रकारिता के व्यापक मूल्यों को आधार बनाकर खड़ी की गयी थीं अब ढहती जा रही हैं– जैसे दिनमान, नवभारत टाइम्स। आज हिन्दी की दो बड़ी पत्रिकाओं 'इंडिया टूडे' और 'आउटलुक' का नाम तक अंग्रेजी शब्द का देवनागरी लिपि में रूपान्तरण है। पत्रकारों के सामने न ही कोई आन्दोलन बचा है न ही आदर्श। इन ढहती हुई इमारतों के बजाय हाशिये पर हो रहे आन्दोलन फिर भी कुछ हद तक मानवीय चेतना को समेटे हुए हैं।

भाग – दो

इतिहास, वर्तमान और मीडिया

अब तक के अध्ययन में हमने देखा मीडिया का चरित्र 1990 के बाद किस तरह से बदला है। मीडिया न सिर्फ एक के बाद एक मिथकों की रचना करती रही बल्कि वह वर्चस्व की प्रक्रिया पुनरुत्पादन करने का औजार भी बनी रही। मीडियाकर्मियों ने अपने बचाव के लिए 'बाजार' का एक ऐसा ही मिथक रचा। 'बाजार' और 'प्रायोजित बाजार' का ऐसा घालमेल प्रस्तुत किया गया मानो बाजार नाम की संस्था ही मीडिया की वर्तमान प्रकृति के लिए जिम्मेदार है। नतीजतन उन तमाम कर्मकाण्डों और अनुष्ठानों को मीडियाकर्मियों के एक तबके के भीतर जायज ठहराने का अभियान सा चल पड़ा है जो अर्थ–उपार्जन और क्षणिक प्रसिद्धि का अवसर देते रहे हैं। इस अभियान ने मध्यवर्ग से भरे मीडिया जगत में 'उच्च–वर्ग' के समतुल्य दिखने का एक उन्माद पैदा कर दिया है। जाहिर है कि ऐसी स्थिति हाशिये पर खड़े वृहत्तर जनसमुदाय के समक्ष वर्चस्व की नई संरचना को रचेगी।

यह मीडियाकर्मियों और हाशिये पर खड़े लोगों के बीच हुए ऐतिहासिक समझौते का उल्लंघन है। यह समझौता मीडियाकर्मियों पर यह जिम्मेदारी डालता था कि वे वंचना, उत्पीड़न और शोषण की उन संरचनाओं को खोलेंगे जिनके जरिये हाशिये के लोगों को सदियों से कुछ थोड़े से वर्चस्वशाली समुदाय ने जकड़ रखा है। बदले में हाशिये के ये लोग उन खबरकर्मियों को अपने वैचारिक प्रतिनिधि का दर्जा देंगे। चूंकि खबरों का सबसे बड़ा 'खरीददार' अब भी हाशिये का यह समुदाय ही है इसलिए मीडिया सीधे–सीधे समझौते के उल्लंघन की घोषणा नहीं कर सकता है। लेकिन उसने अपने लिए कई तरह छद्म रास्ते ढूंढ रखे हैं। मीडिया का चरित्र एक ऐसे धूर्त राजनेता की तरह होता जा रहा है जो हर पांचवें साल अपनी वैधता की मुहर जनता से ले आता है। यही वजह कभी–कभी मीडिया

को ऐसी खबरों पर काम करने के लिए बाध्य करती है जिससे वह वैचारिक प्रतिनिधि का दर्जा बनाये रख सके।

अगर ऐसी स्थितियां आ ही जायें कि सीधे–सीधे उन मसलों पर काम करना पड़ जाये जिसका सरोकार हाशिये के लोगों से है तो मीडिया सबसे पहले उस मुद्दे का मध्यवर्गीय संस्करण प्रस्तुत करता है। इस मध्यवर्गीय संस्करण के प्रस्तुत होते ही सूचना स्रोतों को मानकीकृत करने का प्रयास शुरू हो जाता है। मानकीकरण की यह प्रक्रिया धीरे--धीरे विवादित मसलों से हाशिये के लोगों को बाहर ढकेलने का काम शुरू कर देती है और अन्ततः पूरा का पूरा मसला प्रभु–वर्ग के पाले में डाल दिया जाता है।

आगे के अध्ययन में हम एक ही घटना का विस्तृत अध्ययन करेंगे। यह घटना है– 'इतिहास का विवाद'। 1990 के उत्तरार्ध में भाजपा और उसकी सहयोगी पार्टियों ने मिलकर केन्द्र सरकार पर अपना कब्जा किया। सरकार बनने के साथ कई तरह के 'परिवर्तन' शुरू हुए जिसमें एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था स्कूली बच्चों को पढ़ाये जाने वाले पाठ्यक्रम का परिवर्तन– खास तौर से इतिहास की पाठ्यपुस्तकों का परिवर्तन। एन.सी.ई.आर.टी. जो भारत भर के 'कुछ' स्कूली बच्चों के लिए किताबें लिखने का काम करती है उसने अपनी इतिहास की किताबों में कई परिवर्तन किये। ये परिवर्तन उस समय की राजनीति से ही प्रेरित थे। देखते–देखते इस विवाद ने दो खेमे बना लिए। पहला खेमा उन लोगों का था जो यह 'परिवर्तन' करना चाह रहे थे। दूसरा खेमा उन लोगों का जो यह मानकर चल रहे थे कि यह इतिहास के साथ एक तरह की छेड़छाड़ है। कम–से–कम मीडिया ने पूरे विवाद के दो ही पक्ष सामने रखे। आगे के तीन अध्यायों में इस घटना के विश्लेषण के जरिये यह देखने की कोशिश की गई है कि इस विवाद का कोई पक्ष दबा तो नहीं रह गया।

आगे बढ़ने से पहले एक स्पष्टीकरण देना जरूरी हो जाता है। इतिहास के विवाद के चयन का कारण यह है कि यह विवाद लगभग चार–पांच साल चला और अभी भी चल रहा है। दूसरा कारण यह है कि उस विवाद में उन लोगों की सक्रिय भागीदारी रही जो समाज में 'सोचने–समझने का काम' करते हैं। इन सबके अलावा उसमें एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष यह रहा है कि यह मामला सिर्फ 'इतिहास कैसा हो' इसका नहीं है बल्कि इसमें यह भी जुड़ा है कि हम बच्चों को कौन–सा इतिहास पढ़ाएं। यानी इस इतिहास के विवाद की जड़ में है– एक खास तरह के 'बचपन की

रचना' और 'भविष्य की राजनीति' पर नियंत्रण।

इक्कीसवीं सदी की शुरुआत बीती हुई कई सदियों के इतिहास पर विवाद से हुई। मीडिया में भी पिछले चार–पांच सालों से मज़मूनों और खबरों के जरिये इतिहास पर चर्चा होती रही है। लेकिन इस पूरे फसाने की वह बात सबसे ज्यादा नागवार गुज़री जिसका जिक्र नहीं हुआ। जब अखबारों के पन्नों और टेलीविजन के पर्दे पर इतिहास की चर्चा हो रही थी तब उस चर्चा में इतिहास लेखन की राजनीति के बारीक से बारीक पहलुओं को भी उठाया गया, लेकिन पूरा मामला सिर्फ इतने से झगड़े पर टिका रहा कि इतिहास कौन लिखे? मक्खन लाल, टी.पी. वर्मा, अरुण शौरी या फिर सतीश चन्द्रा, विपिन चन्द्रा और अर्जुनदेव। एक वर्ग अपने वैज्ञानिक प्रशिक्षण का हवाला देते हुए वस्तुनिष्ठ होने का दावा कर रहा था, वहीं दूसरे वर्ग को जन–सामान्य की 'भावनाओं' का ख्याल भुना रहा था। यह पूरा का पूरा मामला 'इतिहासकारों' की आपसी राजनीति का था। सवाल इतिहास के नाम पर और उसके जरिये चलाये जा रहे 'सत्ता–तंत्र' पर नियंत्रण का था। शब्दावलियों का जिस तरीके से उच्चारण किया गया उसमें घोषणा तो इतिहास लेखन की हो रही थी लेकिन प्रतिध्वनि 'अतीत पर वर्चस्व' और 'वर्तमान पर नियंत्रण' की थी।

इस विवाद में यह स्पष्ट रूप से दिखा कि इतिहास अतीत की राजनीति है जो कि हाशिये के वर्ग को और ज्यादा हाशिये पर ढकेलने का प्रयास करती रही है। 'सामाजिक इतिहास का लेखन' जैसा मिथक खड़ा करके इस भ्रम को बनाये रखने की कोशिशें बार–बार होती रहीं कि इतिहास के अकादमिक चरित्र का भी सरोकार हाशिये के लोगों से रहा है और रहेगा। लेकिन वर्तमान विवाद पर हुई टिप्पणियों ने इतिहास के अकादमिक चरित्र के विरोधाभास को सामने तो खड़ा किया ही, उससे भी ज्यादा यह बात उभर कर सामने आयी कि कोई भी सामाजिक चर्चा न तो अपने ऐतिहासिक जडत्व से मुक्त होती है न ही उन माध्यमों के मानक को तोड़ पाती है जिसके मार्फत यह चर्चा सम्पन्न होती है।

इतिहास लेखन का मसला – यह एक ऐसा मसला था जो कि समाज के वृहत्तर तबके से सीधा सरोकार रखता था। इस संदर्भ में यह मुद्दा मीडिया द्वारा उठाये जाने वाले अन्य मुद्दों से अलग था। इतिहास लेखन के इस विवाद में मीडिया की सबसे बड़ी असफलता यह थी कि यह विवाद जिस छोटे से समूह के मध्य पनपा वहीं पर सिमट कर भी रह गया। इसके

लिए वर्तमान 'इतिहास' के लेखन की अपनी प्रकृति तो जिम्मेदार थी ही उससे भी ज्यादा वह तकनीक जिसके जरिये इस विवाद को आगे बढ़ाया गया। इस विवाद में प्रिंट मीडिया ने जिस तरह से बढ़–चढ़ कर हिस्सेदारी दिखाई उसके अनुपात में दृश्य–मीडिया की उपस्थिति काफी कम थी। इस पूरी की पूरी बहस में पहले से ही स्थापित संरचनाओं को जबदस्त जगह दी गयी। जैसा कि अन्य तमाम बहसों में होता है कुछ चुने हुए 'ब्राह्मण' ही यज्ञ के लिए बुलाये जाते हैं। अगर महीप सिंह नहीं बुलाये जायेंगे तो सुमित सरकार होंगे, लेकिन चुनाव उन्हीं दो तरह के लोगों के बीच में ही था। हमारे मीडियाकर्मी इस विवाद को लेकर इसी तरह के लोगों के आस–पास क्यों मडराते रहे– इसकी तहकीकात से हम यह समझ सकते हैं कि मीडिया द्वारा चलायी जाने वाली बहस की कितनी सीमायें हैं।

विमर्श और खोजी पत्रकारिता

खबरों को खोजने के लिए पत्रकारों द्वारा अपनी सीमाओं से आगे जाकर कोशिश करना एक सामान्य सी बात है। कई बार सूचनाओं को हासिल करने के लिए पत्रकार वे तमाम हथकंडे अपनाता है जिनका इस्तेमाल आम तौर पर कोई जासूस या खुफिया विभाग का व्यक्ति करता है। इसके बरक्स कई बार हम देखते हैं कि सूचनायें पत्रकारों को एक समूह विशेष (इस समूह का निर्धारण बहुत कुछ विवाद के रुख पर निर्भर करता है) द्वारा अपनी राजनैतिक स्थिति के मध्य मुहैया करायी जाती हैं। ऐसी स्थिति में अक्सर पत्रकार और मीडियाकर्मी अपने आलस्य का शिकार हो जाते हैं और उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर परिघटना से जुड़ी हुई खबर, फीचर या लेख तैयार कर देते हैं। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की स्थिति और बदतर है। एक तो इस मीडिया को आरम्भ में सुविधायें इतनी ज्यादा मिलीं कि वह बैठे–बिठाये खबर पा जाने का आदी हो गया। बहुत हुआ तो पत्रकार निमंत्रण पर कहीं चले गये या फिर कुछ विशेषज्ञों को स्टूडियो में बुला लिया (हाल–फिलहाल में यह स्थिति काफी बदली है)। मीडियाकर्मियों के बीच में खबरों को हासिल करने का जो कौशल विकसित हुआ उसके पीछे सुविधा और आसानी तो काम करती ही थी उससे भी ज्यादा काम करता था समझ का मानकीकरण।

किसी भी विवाद को समझने–समझाने को ले कर मीडियाकर्मियों के बीच एक तयशुदा 'मानक' काम करता है। आम तौर पर वे इस 'मानक' से हटना पसन्द नहीं करते, अगर हटने की कोशिश करें तो भी मीडिया की जो बड़ी संरचना है वह उन्हें हटने महीं देती है। इसलिए जैसे ही कोई विवाद पनपता है या पनपाये जाने की कोशिश होती है ये मीडियाकर्मी एक 'सूची' की तरफ भागते हैं। वह सूची होती है विशेषज्ञों की सूची। प्रेस में तो संभव है कि पत्रकार एक बार सूचना के अन्य साधनों की ओर दौड़े लेकिन इलेक्ट्रॉनिक मीडिया तो लगभग शत–प्रतिशत मामलों में यही करता रहा है। ये विशेषज्ञ आम तौर पर मीडिया प्रतिष्ठानों के इर्द–गिर्द होते हैं। नतीजतन विवाद पर जनसामान्य की जो पहली समझ होती है उसे तय करने में विशेषज्ञों की उपरोक्त सूची की एक अहम भूमिका हो जाती है। यूं तो इस सूची के तैयार होने की भी अपनी एक राजनीति होती है। 1990 से पहले पटना, जयपुर, भोपाल, इलाहाबाद ये तमाम जगह हिन्दी बुद्धिजीवियों के गढ़ होते थे। अब सिर्फ दिल्ली है क्योंकि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया दिल्ली में है। फिलहाल हम उसकी चर्चा नहीं करेगें, हां इतना जरूर कहना चाहेंगे कि विशेषज्ञों की इस सूची के बजाय खोजी पत्रकारिता उन मूल्यों को ज्यादा बेहतर तरीके से बचा पाती है जिनकी मांग एक लोकतांत्रिक समाज अक्सर करता है।

खोजी पत्रकारिता के गुणों को एक ओर रखकर विशेषज्ञों की सूची की तरफ भागने के क्या खतरे होते हैं – यह इस इतिहास के विवाद में एकदम स्पष्ट रूप से नज़र आता है। पहली बात तो यह कि विशेषज्ञ कभी भी उस प्रक्रिया पर टिप्पणी नहीं करते जो उनकी अपनी आन्तरिक राजनीति और कमजोरियों का परिणाम होती है। इतिहास का जो विवाद चला उसमें पेशेवर मीडियाकर्मियों की सक्रिय हिस्सेदारी काफी कम थी। कम से कम विमर्श के स्तर पर तो ऐसा था ही। नतीजतन पूरा का पूरा विमर्श 'विशेषज्ञों' द्वारा चलाया गया। जो लोग पक्ष या विपक्ष में बोल रहे थे वे पहले से ही स्थापित एक बड़ी संरचना के दो हिस्से थे और यहां यह स्पष्ट करना जरूरी है कि इस संरचना में हाशिये के लोगों की भागीदारी कहीं नहीं थी। नतीजा यह हुआ कि पूरी की पूरी बहस लाल, हरा और केसरिया में सिमट कर रह गयी। इतिहास के सिर्फ तीन रंग नहीं हो सकते हैं। इतिहास से जुड़ा हुआ वह पक्ष, जो हाशिये के लोगों का था, वह हाशिये पर भी जगह नहीं बना सका। इसका एक बड़ा कारण यह भी था कि इतिहास को लेकर हमारी अपनी

समझ अभी तक उसके राजनैतिक प्रभाव से मुक्त नहीं हो पायी है। यह मानकर नहीं चला जा सकता है कि इतिहास पर विवाद के इस पूरे प्रकरण में वैसे लोग मौजूद नहीं रहे होंगे जो हाशिये के लोगों का पक्ष रख सकें। लेकिन विशेषज्ञ परम्परा हमारे मीडिया पर इतनी ज्यादा हावी है कि प्रत्येक बहस कोई भी मौलिक रूप लेने से पहले एक मानकीकृत रूप ले लेती है और यह 'मानक' भी कुछ मुट्ठी भर लोगों के हितों को ध्यान में रखकर तय कर दिया जाता है। बहस के मानकीकरण की इस प्रक्रिया से न तो हमारा मीडिया जगत अब तक उबर पाया है न ही उबराना चाहता है क्योंकि इन मानकों का निर्धारण एक 'सत्ता–गत' प्रक्रिया है जिससे अलग हट पाने का साहस मीडिया कभी भी नहीं दिखा सका है।

मीडिया अपनी इस गतिविधि विशेष (खोजी पत्रकारिता) का इस्तेमाल एक घटना (प्रक्रिया) को उभारने के लिए तो करता है लेकिन दूसरी प्रक्रियाओं के मामले में उन 'उपायों' का इस्तेमाल करने से हिचकता है। भ्रष्टाचार के मामलों में अपनी खोजी वृत्ति को लगातार प्रदर्शित करने वाली पत्रकारिता किसी सामाजिक मुद्दे पर ऐसा क्यों नहीं कर पाती है। भारतीय संदर्भ में गरीबी, अशिक्षा और भुखमरी जैसे मामले में जब खोजी पत्रकारिता का जिक्र करते हैं तो पी. साईंनाथ का नाम एक अपवाद की तरह आता है।

आम आदमी की दुकान

इस घनघोर बाजारू दुनिया में जब बड़ी से बड़ी घटना पल भर में मीडिया द्वारा भुला दी जाती है उस दौर में भी 'इतिहास' के नाम पर जो विवाद चला वह सालों–साल 1990 के दशक के उत्तरार्ध से लेकर 21वीं सदी के शुरुआत तक छाया रहा। आखिर इस विवाद में वह कौन सी चीज काम कर रही है जिसने इसे जिलाये रखा। इसका जवाब हमें तब मिलता है जब हम इस विवाद को बनाये रखने वाले लोगों पर एक नजर डालते हैं। गौरतलब है कि इस पूरे विवाद को पेशेवर मीडियाकर्मियों ने छुआ भर। जन–समुदाय ने मन मसोस कर खबरें पढ़ भर लीं। अगर इस पूरे प्रकरण पर चिन्ता और फिक्र किसी को हो रही थी तो वे थे हमारे इतिहासकार, खासतौर से अपने आप को 'प्रगतिशील' बताने वाले इतिहासकार। इनका दावा है कि इन्होंने आम आदमी की सबसे ज्यादा फिक्र की है। बहुधा अपने रोजमर्रा और

व्यवसाय (इतिहास लेखन) का काम अंग्रेजी में करने वाले इस समुदाय को यह जरूरत महसूस हुई कि इन्होंने अनुवाद कराकर ही सही, अपने लेख हिन्दी में छपवाये। अपने आपको 'देशज इतिहासकार' बताने वालों की स्थिति भी उससे अलग नहीं थी। इनका दावा है कि ये इतिहास लेखन के जरिये सांस्कृतिक पुनरुद्धार करेंगे और जो नहीं बताया वह यह था कि संस्कृति की परिभाषा तय करेगी पितृसत्तात्मक ब्राह्मणवादी कुलीनता।

इतिहास के माध्यम से अतीत को अपने पक्ष में मोड़ने की कोशिश हर सत्ताधारी वर्ग करता आया है। सो इस अपेक्षाकृत 'नये' से लगने वाले 'संघ' को भी यह महसूस हुआ कि इतिहास की यह राजनीति कर ही ली जाये। लेकिन जिस तेजी के साथ नब्बे के दशक में यह संघ प्रायोजित बाजार की बैसाखी के सहारे राजनीति के केन्द्र में पहुंचा, उस तेजी के साथ अपनी अन्य शाखाओं को मजबूत नहीं कर पाया। दूसरी बात यह थी कि राजनैतिक तौर पर मरते जाने के बावजूद भी वामपंथ का अकादमिक हाथी अभी भी सवा लाख का थी। जे.एन.यू., दिल्ली विश्वविद्यालय जैसी जगहों पर वर्षों से 'आम आदमी की दुकान' सजा रहे हमारे 'प्रगतिशील' दुकानदारों को केसरिया कपड़ा पहने वह खोंमचे वाला अपने लिए एक चुनौती लगा जो इसी दुकान के ठीक सामने अपना ठेला खड़ा कर चुका था। इस विवाद के होने से जो मेला लगा या लगेगा उससे सिर्फ दुकानदार की बिक्री नहीं बढ़ेगी बल्कि खोंमचे वाले की भी बिक्री बढ़ेगी। इसलिए विवाद का यह स्वरूप दोनों ही पक्षों को लुभा रहा था।

अभिव्यक्ति के कुछ चुने हुए रास्तों का इस्तेमाल करने की वजह से इस विवाद में जो कई बातें समाहित हो सकती थीं वह रह गयीं। मसलन इस विवाद से यह प्रश्न गहरे तौर पर ताल्लुक रखता है कि किस आधार पर हमारे वामपंथी मित्र अपने आप को आम आदमी का पैरवीकार मानते हैं, जबकि इनकी 'भाषा' तक आम आदमी की भाषा नहीं है। यह अलग बात है कि दक्षिण–पंथी इतिहासकारों ने भी अंग्रेजी को ही अपना आधार बनाया है। मीडिया किसी भी स्तर पर वामपंथी इतिहासकारों को यह एहसास करा पाने में असफल रहा कि उनका दर्द एक अकादमिक कर्मकाण्ड से जुड़ा हुआ है न कि किसी भी तरह समाज और उसके संघर्षों से। अंग्रेजी बोलने वाले और सुंदर दिखने वाले हमारे 'प्रगतिशील' मित्रों की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि वे एक लम्बे समय तक आम आदमी का 'चित्र' बेचते रहे और इसके बदल में मुनाफा कमाते रहे। हमारे ये मित्र अभी भी यही मानते हैं कि आम आदमी का कोई जमीनी स्वरूप नहीं होता। अगर कुछ होता है

तो वह 'चित्र' मात्र है इसलिए इनकी आखिरी लड़ाई उन 'चित्रों' तक सीमित हो गयी है। दूसरी ओर सांस्कृतिक पुनरुत्थान का दावा कर रहे केसरिया कपड़ा पहने अकादमिक दुकानदारों ने दूसरी दुकान को विदेशी माल वाला करार तो दिया लेकिन अपने माल का खुलासा करने से कतराते रहे।

इतिहास की यह पूरी चर्चा एक अमूर्त और आभासी चर्चा रही है। वरना यह चर्चा समाज में घट रही और घटनाओं से अपना जुड़ाव स्थापित करती या करने की कोशिश करती। इस पूरे विवाद में जो मुर्दानगी छायी हुई है उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि जिस विषय को लेकर चर्चा की जा रही है उसके वास्तविक पात्र इस पूरी बहस से जुड़ ही नहीं पा रहे हैं। एक ही तथ्य इस प्रकरण को स्पष्ट करने के लिए काफी है। दिल्ली विश्वविद्यालय में तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री अरुण शौरी शिक्षक संघ के बैनर तले बोल रहे थे (2000) वे वामंपथी इतिहासकारों के कुकृत्य गिना रहे थे। श्रोताओं की तरफ से एक प्रश्न आया – यहीं पर कुछ दिनों पहले सुमित सरकार (एक इतिहासकार जो वामपंथी रूझान के माने जाते हैं) बोल रहे थे, आज आप (ये सज्जन दक्षिणपंथी चिंतक माने जाते हैं) बोल रहे हैं, मेरे लिए तो दोनों ही बहस अंग्रेजी में हैं। अरुण शौरी का जवाब था कि – हर जगह कुछ समाजवादी आ ही जाते हैं। एक दक्षिणपंथी चिंतक उत्तर भारत में अपने सार्वजनिक व्याख्यान के समय सरेआम हिंदी के सवाल को समाजवादी शगल के साथ जोड़ता है और उस 'विचारधारा' का श्रेष्ठ चिंतक बना रहता है। मामला बड़ा साफ है यह पूरा विवाद बड़ी सत्ता संरचना के दो पक्षों के बीच था इस बात की जरूरत कोई भी पक्ष महसूस नहीं कर रहा था कि इस विवाद में जन समुदाय को भी शामिल किया जाये। वे बगैर किसी पर्दे के राजनीति करते रहे हैं और मीडिया उनकी इस राजनीति का मंच बना रहा है।

इस दौर में मीडिया से यह उम्मीद की जा सकती थी कि वह विवाद का सरोकार बढ़ाये। 'बायें' और 'दायें' से आगे बढ़कर समाज के एक वृहतर वर्ग को इसमें शामिल करे। एक दौर था जब 'दिनमान' में ऐसी बहसें चला करती थीं जब किसी विषय विशेष पर लोगों से राय मंगायी जाती थी। आज भी यह परम्परा सम्पादक के नाम पत्र इत्यादि में है लेकिन इसकी उपस्थिति एकदम नामालूम सी है। मीडिया के अपने पैमाने पर यह बात बड़ी बेमानी लगती है कि वह किसी सामाजिक बहस में सिर्फ दो वर्गों को शामिल करता है। गौरतलब है कि इस विवाद को समाज का वंचित तबका अगर

अपनी जरूरतों और संघर्षों के मुताबिक नहीं मोड़ पाया तो इसका एक कारण यह भी था कि उसे कोई ऐसा सेतु नहीं मिला जिससे वह इस विवाद के तकनीकी पहलुओं को अपनी समस्याओं की तारतम्यता में समझ पाता।

इस विवाद में मीडियाकर्मियों ने जिसे खबर बनाया वह 'संस्थायी पंडितों' द्वारा खड़े किये गये विमर्श का हिस्सा मात्र था। खबरों को समझने–समझाने के लिए उन स्रोतों तक पहुंचने की जरूरत नहीं समझी गयी जो इन संस्थायी पंडितों के नियंत्रण क्षेत्र से बाहर हैं। इतिहास की मुख्यधारा जब 'स्मृति' (याद्दाश्त) को एक स्रोत की तरह लगातार मान्यता देती जा रही है, उस दौर में इस इतिहास–विवाद को समझने के लिए जन–स्मृति और जन–श्रुतियों का इस्तेमाल किया जाना चाहिए था क्योंकि इस बात का कोई व्यापक आधार नहीं है कि जिन्हें हम 'तथ्य' समझते हैं वे हर 'धुरी–बिन्दु' के संदर्भ में अपनी पवित्रता को बनाये रखेंगे।

वर्तमान और विमर्शों का अधूरापन

इतिहास लेखन को लेकर खूब बहस होने के बावजूद भी इसके कई पहलुओं पर जानबूझ कर खामोशी बनाये रखी गयी। इस बात का खूब जिक्र हुआ कि इतिहास की किताबों से कुछ अंशों को हटा दिया गया। लेकिन इस पर विमर्श करने की कोई बड़ी पहल नहीं दिखी कि जो इतिहास पढ़ाया जा रहा है उसका एक स्कूली बच्चे के लिए क्या महत्त्व हो सकता है। जिन अंशों को काटकर हटाया गया उनको इस संदर्भ में भी देखे जाने की जरूरत थी कि चाहे उस तथ्य का हवाला किसी अन्य ग्रंथ के जरिये ही किया गया हो लेकिन क्या वैसे तथ्य इस काबिल हैं कि उन्हें स्कूली बच्चों को पढ़ाया जाये? अगर आप एक 'सत्य' को जो कि एक वृहत्तर समुदाय के धार्मिक सरोकार से जुड़ता है महज इस आधार पर पढ़ाना चाहते हैं कि उसका उल्लेख एक फारसी धर्म ग्रंथ में है तो यह कोशिश उन कोशिशों से बिल्कुल अलग नहीं है जिन्होंने 1992 में एक धार्मिक स्थल को तोड़ा और राष्ट्रव्यापी दंगों का कारण बनीं।

स्कूल एक सामाजिक संस्था है। वहां क्या पढ़ाया जाये– इसकी निर्धारण प्रक्रिया में समुदाय की भी भागीदारी होनी चाहिए न कि सरकार के नियंत्रण में चलने वाली किसी संस्था द्वारा इसे एकतरफा तरीके से नियंत्रण

में चलने वाली संस्थायें उसमें सहयोग दे सकती हैं। अन्यथा शिक्षण की पूरी प्रक्रिया ही एक विशेष तरह की अकादमिक जड़ता का शिकार हो जायेगी। इस पूरे विवाद में इस तथ्य पर कोई हलचल नहीं मची कि एनसीईआरटी को यह अधिकार कैसे दे दिया गया है कि एक मुगलिया फरमान से रातों–रात क्या पढ़ाया जाये, यह सब तय कर सकता है। आखिर यह क्यों नहीं बताया जाता है कि जब कोई पाठ पाठ्यक्रम में शामिल होता है तो उसका तर्कशास्त्र क्या होता है और जब वह हटाया जाता है तब उसका तर्क क्या होता है।

एनसीईआरटी के केन्द्रीकृत चरित्र पर कोई बहस न होना अपने आप एक बड़ा सवाल है जो कि मीडिया पर उठता है। आखिर वह कौन सी ऐसी राजनीति या प्रक्रिया थी जिसने शिक्षा को केन्द्रीय नियंत्रण में रखे जाने के प्रश्न को हाशिये का प्रश्न बना दिया? मीडिया ने इस विवाद में इतिहासकारों का जिस तरह से स्वागत किया वह अभूतपूर्व था। लेकिन इस बात की जरूरत तक नहीं समझी गयी कि शिक्षणकर्मियों या बच्चों को भी इस विवाद में एक पक्ष बनाकर रखा जाता। अगर आप विमर्श की पूरी प्रक्रिया को 'बायें' और 'दायें' में ही देखेंगे तो वैसे तमाम प्रश्न अछूते रह जायेंगे जिनका सरोकार उस वृहत्तर समुदाय से है जो हाशिये पर जीवन बसर करता है।

इस बहस में इतिहासकारों का पक्ष मीडिया ने जिस तरीके से रखा उसमें यह बात एकदम से गैर महत्त्वपूर्ण हो गयी थी कि वहां बातचीत एक लचर स्कूली व्यवस्था के संदर्भ में की जा रही थी। किसी निजी प्रकाशक के लिए अपनी किताब लिखना और सरकारी संस्थान में बच्चों के लिए किताब लिखना, दो अलग–अलग तरह की प्रक्रियायें हैं। मीडिया के जरिये जो विमर्श उभरा उसमें यह परखने की कोशिश कतई नहीं दिखी कि एक सार्वजनिक पाठ्यपुस्तक का स्वरूप कैसा होना चाहिए। मसलन 'गुरु तेग बहादुर को लुटेरा' बताने वाले फारसी ग्रंथ का हवाला देने वाले सतीश चन्द्र यह बोल कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते है कि उन्होंने यह बात नहीं कही है बल्कि इसको उद्धृत मात्र किया है, वह भी एक फारसी के ग्रंथ से। लेकिन यह हमारी चर्चा के केन्द्र में कहीं नहीं आया कि क्या वर्तमान शिक्षण प्रणाली में इतना दमखम है कि वह विषय को वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में समझा सके। क्या इस बात की तहकीकात हमारी शिक्षण व्यवस्था कर सकती है कि 'लूट' की परिभाषा एक सापेक्षिक किस्म की परिभाषा है जो कि सत्ता तंत्र और समय के संदर्भ में तय होती है।

इतिहास पर उठे इस विवाद के ऐसे और कई पहलू हैं जिन पर मीडिया में कोई चर्चा नहीं हुई। दरअसल मीडिया में हो रहे किसी भी विमर्श की अपनी एक गतिकी होती है जो तत्कालीन सत्ता संरचना से तो प्रभावित होती ही है, साथ ही वह अपनी रूढ़िबद्ध जड़ता का भी परित्याग नहीं करती।

भग्वा राजनीति और वामपंथी ब्राह्मण

राजनैतिक बदलाव के साथ–साथ इतिहास की पुस्तकों में बदलाव नहीं हुआ बल्कि इस राजनैतिक बढ़त को स्थायी बनाने के लिए बच्चों के मानस परिवर्तन का अभियान चलाया गया। भग्वा टोली में शामिल इतिहासकारों ने अतीत को अपने रंग में रंगना शुरू किया। इसके विरोध का आधार इतिहास के दर्शन की उस महान चेतना को बताया जाना चाहिए था जिसके आधार पर बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय इतिहासकारों ने इतिहास को नये तरीके से लिखा। अतीत की परतों में दब गये मजदूरों, किसानों, महिलाओं, विकलांगों, दलितों और ऐसे ही हाशिये के अन्य वर्गों को 'मुख्य इतिहास' में शामिल किया गया। यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन था। इस इतिहास को लिखने में हजारों प्रगतिशील लोगों की भागीदारी रही। इतिहास लेखन के इस आन्दोलन के प्रति हमारे भीतर एक स्वाभाविक सम्मान होना चाहिए। लेकिन इसी समय इतिहास को इस दृष्टिकोण से देखने वाले कुछ अंग्रेजी भाषी इतिहासकारों में यह 'उपलब्धि' एक विशिष्ट श्रेष्ठता भरती चली गई। अंग्रेजी भाषा में काम करने की वजह से वे इतिहासकार पहले जन समुदाय से कटे हुए थे और इस श्रेष्ठताबोध ने उन्हें और अलग–थलग कर दिया।

इतिहास के इस विवाद में जिस युद्ध को इतिहास–दर्शन की चेतना और जन समुदाय के सहयोग से लड़ा जाना चाहिए था, उसे श्रेष्ठता के अहंकार से लड़ा गया। इस युद्ध में इन अंग्रेजी भाषी इतिहासकारों में साफ तौर पर एक ब्राह्मणवादी प्रवृत्ति देखने को मिली।

'इतिहास के नीम हकीम' यह शीर्षक था एक लेख का जिसे अंग्रेजी दीक्षित एक बड़े इतिहासकार (डी.एन. झा, हिन्दुस्तान, 17 दिसंबर 2001) ने हिन्दी के एक अखबार में लिखा था। अगर इस लेख की भाषा पर ध्यान दिया जाये तो इसमें इतिहासकार महोदय की दिक्कतें तो विशेष तौर पर

पता नहीं चलतीं पर इतना जरूर पता चलता है कि उनमें एक विशेष किस्म का श्रेष्ठताबोध भरा हुआ है। वे अपने लेख की शुरुआत पुस्तकों की सेंसरशिप से करते हैं और लेख का अन्त यह बताने में करते हैं कि मक्खन लाल और टी.पी. वर्मा, जिनसे एनसीईआरटी इतिहास लिखवाना चाहती है वे दरअसल इतिहासकार हैं ही नहीं। वे बार–बार इतिहास लिखने के लिए 'प्रोफेशनल' का जिक्र करते हैं। डी.एन. झा ऐसे अकेले इतिहासकार नहीं हैं जो इतिहास लेखन के साथ प्रोफेशनलिटी की एक तयशुदा परिभाषा जोड़ना चाहते हैं। सुमित सरकार इस बात को व्यंग्यपूर्वक कहते हैं कि मुमकिन है कि अब अरुण शौरी इतिहास लिखेंगे। (राष्ट्रीय सहारा, हस्तक्षेप, 8 दिसंबर 2001, पृ. 4)। इस पूरे विवाद में इतिहासकारों के एक पूरे समूह ने इतिहास लेखन के साथ जिस 'प्रोफेशनलिटी' की मांग की– उसका कोई बड़ा और व्यापक आधार नहीं था। पहली बात तो यह कि इस बात के पीछे कोई तर्क नहीं था कि ये इतिहासकार जिस 'प्रोफेशनलिटी' की मांग कर रहे हैं उसमें उसकी अपनी कोई वस्तुनिष्ठता है भी या नहीं। इसके अलावा इसका भी कोई व्यापक आधार नहीं है कि अब तक जो इतिहास लिखा जाता रहा वह इतिहास–दर्शन के लिहाज से कोई उच्च कोटि का इतिहास रहा हो। लेकिन बार–बार हमारे इन प्रगतिशील इतिहासकारों ने इतिहास लेखन के लिए एक अनिवार्य प्रशिक्षण का जिक्र किया।

ज्ञान संरचना के निर्माण में किसी कर्मकाण्ड और अनुसंधान विशेष से जुड़े होने का आग्रह भारतीय समाज में हमेशा ही देखने को मिला है। शिक्षा पाने का अधिकार केवल उसी को होता था जिसने उपनयन संस्कार करा रखा हो और आज इतिहास लेखन के लिए एक प्रशिक्षण विशेष की बात उठायी जा रही है। इतिहासकारों द्वारा इस तरह का आग्रह कि इतिहास लेखन के लिए 'प्रोफेशनल्स' होना अनिवार्य है– यह बात तो समझ में आती है लेकिन जो समझ में न आने वाली बात है, वह है कि इस ब्राह्मणवादी रवैये पर मीडिया में खामोशी क्यों छायी रही। यहां ग़ौरतलब है कि इतिहास लेखन के लिए 'प्रोफेशनल्स' और वैदिक कर्मकांडों के लिए 'ब्राह्मण' – ये दो लोग दो तरह के जीव नहीं हैं, ये एक ही प्रजाति के लोग हैं। इतिहास लेखन के लिए विशेषज्ञता का आधार जो डिग्रियां बनती हैं उनका अपना कोई तर्कशास्त्र नहीं होता। लेकिन इन डिग्रियों और प्रोफेशनलिटी के प्रति आग्रह इतना ज्यादा होता है कि यह परखने की गुंजाइश नहीं के बराबर बचती है कि क्या इतिहासकारों का जिस तरह से प्रशिक्षण होता है वह उन्हें किसी भी तरह से अतीत के प्रति वस्तुनिष्ठ बनाये रखने में मदद करता है?

इतिहासकारों ने प्रशिक्षण के जिस मानक को इतिहास लेखन की अनिवार्य शर्त बताया वह मानक 'विज्ञान', 'अकादमिक तर्कशास्त्र' और 'ज्ञान' की बुनियादी अवधारणाओं को मिलाकर ही नहीं बना है बल्कि वह एक ऐसे अकादमिक जड़त्व की उपज भी है जो इतिहास लेखन के क्षेत्र में राजनैतिक हस्तक्षेप की वजह से ऐतिहासिक तौर पर मौजूद रही हैं। इतिहास के लिखने में 'प्रोफेशनलिटी' की मांग करना एक तरह से उन कोशिशों को नकारने की साजिश है जिनके तहत इतिहास की चेतना को इस हद तक बढ़ा और फैला देने की बात की गई कि जन सामान्य अपना इतिहास स्वयं लिखें। इस तथ्य को स्वीकार करना वर्तमान भारतीय समाज में काफी मुश्किल है कि इतिहास लेखन की प्रक्रिया आम जनता द्वारा भी सम्पन्न हो सकती है।

इतिहास लेखन के लिए जिस 'प्रोफेशनलिटी' का आग्रह है और बार–बार दूसरे पक्ष के इतिहासकारों की क्षमता पर जिस तरह संदेह किया जा रहा है उसे इस परिप्रेक्ष्य में भी समझे जाने की ज़रूरत है कि आखिर ये इतिहासकार क्योंकर इतिहास लेखन को एक आयामी बनाए रखना चाहते हैं? इतिहास लेखन की जो वर्तमान संरचना बन रही है उसमें विषय के अन्दरूनी टकराहट की स्थिति बन गयी है। यह किसी भी विषय के विस्तार के लिए काफी अच्छी स्थिति है, लेकिन यह टकराहट उसके तथ्यों, उसकी व्याख्या के स्तर पर होनी चाहिए न कि व्यक्तिगत और राजनैतिक स्तर पर। यूं भी इतिहास लेखन के मानकीकरण का सवाल उठते ही आप समाज के एक वृहत्तर तबके द्वारा अपनी तकलीफों के ऐतिहासिक कारणों की पड़ताल करने और उसको अभिव्यक्त करने के अधिकार पर ही प्रश्नचिन्ह लगा रहे होते हैं। प्रोफेशनलिटी के इस दुराग्रह. को हम अगर लगातार 'मान्यता' देते जा रहे हैं तो यह गहरे तौर पर मीडिया के चरित्र पर भी प्रश्न उठा रहा है। प्रोफेशनलिटी के नाम पर अकादमिक ब्राह्मणवाद चलाने वाले इन नव–ब्राह्मणों को आप किस आधार पर 'वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ चेतना से लैस इतिहासकारों' (प्रपन्न, राघवेन्द्र, 2001) का दर्जा दे रहे हैं।

यहां सवाल केवल रूढ़िवादी दक्षिणपंथी चिंतकों द्वारा पक्षपाती इतिहास को लिखने की राजनीति के विरोध का नहीं था बल्कि इतिहास लेखन को एक खास तरह की ब्राह्मणवादी प्रक्रिया से जोड़ देने का सवाल भी यहां महत्त्वपूर्ण तौर पर उभरता था। अगर इतिहास लेखन को लेकर मीडिया हमारे 'वामपंथी ब्राह्मणों' द्वारा उठाये गये इस कुतर्क का विरोध नहीं कर रहा है तो वह कहीं न कहीं जन सामान्य के उस विराट अधिकार की उपेक्षा

कर रहा है जहां वह अपनी समझ क्षेत्र के मुताबिक अपने अतीत का निर्धारण करता है।

इतिहास लेखन के इस सम्पूर्ण विवाद में जन समुदाय की कोई व्यापक भागीदारी देखने को नहीं मिली। इसकी भागीदारी होनी भी नहीं थी क्योंकि जिस इतिहास के बदलाव को लेकर विवाद उठा उसमें भी उनकी कोई सटीक भागीदारी न तो लेखन के स्तर पर रही है न ही विषयवस्तु की संरचना के तौर पर। कई इतिहासकारों ने इस विवाद को हिन्दी के अखबारों में भी उठाया। ये लोग आम तौर पर अपने इतिहास के लेखन के क्रम में हिन्दी के प्रयोग से परहेज करते हैं। फिर संकट के समय हिन्दी क्यों? इनकी स्थिति जनता के टैक्स पर ऐश करने वाले उन राजाजनों की तरह है जो संकट के समय राजमहल से बाहर निकलते हैं और जनता को राज्य हित में शहीद हो जाने की सलाह देते हैं। इस मायने में देखा जाये तो जब हमारे इतिहासकारों को विश्वविद्यालयों में बने अपने राजमहल पर एक आक्रमण नजर आया तब वे राजमहल के विलासी वातावरण से बाहर निकले और जन सामान्य के पास जाकर अपनी 'कुलीन शैली में' अपने हितों पर हुए आक्रमण को 'इतिहास' पर हुआ आक्रमण बताने की कोशिश की। अब यह जन समुदाय उस किसी भी शब्दावली के प्रति उदासीनता का शिकार हो चला था जो किसी भी तरह का बलिदान मांगती थी।

इस पूरी प्रक्रिया में मीडिया की भूमिका यथास्थिति बनाये रखने वाला एक माध्यम मात्र की थी। वह न तो ढंग से दक्षिणपंथी इतिहासकारों के राजनैतिक पक्षपात को उभार पा रहा था और न ही 'वामपंथ के ब्राह्मणवाद' को जो कि मात्र अकादमिक बढ़त के आधार पर अपनी 'श्रेष्ठता' और उस आधार पर इतिहास लेखन के एकाधिकार का दावा कर रहा था और न ही मीडिया उस विराट समुदाय को अपनी चर्चाओं में समेट सका जो इतिहास के लिए हमेशा ही हाशिये पर रहे थे। नतीजतन पूरी की पूरी बहस, मीडिया के होते हुए उस वर्ग की ओर मुड़ गयी जो सामाजिक और राजनैतिक तौर पर वर्चस्वशाली वर्ग रहा है।

इतिहास और हाशिये के लोग

इतिहास अतीत की राजनीति है – यह परिभाषा अपनी व्याख्या से ज्यादा उन घटनाओं पर नजर दौड़ाने की मांग करती है जो वर्ष 2000 और उसके बाद भारतीय मीडिया पर छायी रहीं। जैसा कि हमने इससे पहले की चर्चा में देखा कि यह विवाद इतिहास और उसके तथ्यों को लेकर तो था ही, उससे भी कहीं ज्यादा यह मामला इस सरोकार से जुड़ता था कि इतिहास कौन लिखे? इस तरह का विवाद अकादमिक जगत के लिए उसकी रोजमर्रा की आदतों में शामिल है, लेकिन यह मामला अकादमिक जगत से आगे बढ़ चुका था। विवाद समाज तक नहीं पहुंचा, रास्ते में ही मीडिया के हाथों लपक लिया गया। मीडिया एक बार फिर से ऐसी परिघटना को चला रहा था जिसमें जन समुदाय की कोई वृहत्तर भागीदारी नहीं थी, बल्कि वह सत्ता तंत्र की कुचालों का हिस्सा मात्र थी। एनसीईआरटी ने इतिहास की पुस्तकों के निर्माण में कुछ नये लोगों को लगाया। दूसरी ओर इन नयी पुस्तकों के आने से पहले उसने पुरानी पुस्तकों में से कुछ अंश काट कर निकाल दिये तथा इस बात के आदेश जारी किये गये कि इतिहास की पुस्तकों में शामिल उन अंशों को नहीं पढ़ाया जाये जो एनसीईआरटी की नजर में आपत्तिजनक थे।

इतिहास के इस पूरे विवाद में मीडिया की दृष्टि कुछ चुने हुए 'धुरी–बिन्दुओं' पर टिकी रही। यहां मीडिया की स्थिति और उसे नियंत्रित करने वाली 'सामाजिक जड़ता' साफ–साफ दिखाई दे रही थी। इस विवाद के संदर्भ में मीडिया ने जिस विमर्श को सामने रखा वह दरअसल समाज के प्रभु–वर्ग की राजनीति का हिस्सा था। प्रत्येक वर्ग, इतिहास लेखन के नियंत्रण को लेकर लालायित था ताकि वह अतीत की राजनीति में दूसरे वर्ग से आगे निकल जाये। गौरतलब है कि जिन दो वर्गों के बीच में इतिहास लेखन को लेकर टकराहट देखने को मिली उन दोनों ही वर्गों ने बड़ी

चालाकी से 'इतिहास' मात्र के उस क्रूरतम पहलू पर चुप्पी बनाये रखी जो कि हाशिये के लोगों के विरुद्ध रची गयी एक बड़ी राजनीति का हिस्सा थी। इस राजनीति को समझने के लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम इतिहास और हाशिये के लोगों के संदर्भ में जो शास्त्रीय चर्चा की गयी है, उससे रूबरू हों। इसके साथ–साथ इस तथ्य को भी परखें कि कोई भी वर्ग या समाज, किसी इतिहास विशेष का अध्ययन क्यों करता है या फिर करने के लिए बाध्य क्यों कर दिया जाता है।

इतिहास का अध्ययन क्यों?

इतिहास एक निरंतर चलती हुई प्रक्रिया है जिसमें हस्तक्षेप करना मनुष्य धर्म है। ऐतिहासिक विरासत की जानकारी और चेतना हमें उन बिन्दुओं के चुनाव में मदद देती है जिनमें घुसकर हस्तक्षेप की कोशिशों से यह उम्मीद की जा सकती है कि वे दरार पैदा करेंगी (कुमार, 1998, 10)।

समाज में घटने वाली प्रत्येक घटना जहां एक ओर वर्षों और सदियों से चली आ रही किसी प्रक्रिया या प्रक्रियाओं का परिणाम होती है, वहीं दूसरी ओर वह किसी अन्य नई प्रक्रिया की आधारशिला रखती है। जैसे युद्ध का होना अगर एक घटना है तो इसके पीछे साम्राज्यवादी लालसा और व्यापारिक हित जैसे तमाम कारण मौजूद रहते हैं। वहीं दूसरी ओर बड़े युद्धों के परिणामस्वरूप आर्थिक मंदी का आना लगभग तय होता है। अगर हम समय के साथ घटने वाली घटनाओं में कोई तारतम्य नहीं बैठा पाते तो यह हमारी अक्षमता का द्योतक है न कि घटनाओं की असम्बद्धता। इस मायने में इतिहास का ज्ञान, समय की इस विराट धारा में अपनी मौजूदगी और भूमिका को समझने में हमारी मदद करता है। स्टेनफोर्ड (1994) ने अपनी पुस्तक 'ए कम्पेनियन टू दी स्टडी ऑफ हिस्ट्री' में यह बताने की कोशिश की है कि इतिहास का ज्ञान हमें उस महान मानवीय परम्परा और सामूहिक चेतना से अपने आप को जोड़ने में मदद करता है, जो हमारे जन्म के काफी पहले से मौजूद थी और जन्म के काफी बाद तक मौजूद रहेगी। चेतना की तारतम्यता का यह बोध, समय और मृत्यु के विरुद्ध मानवीय अंतरात्मा में निहित एक जीवट अभिव्यक्ति है।

इतिहास जहां एक ओर हमें अतीत के मानवीय मूल्यों और कोशिशों से जोड़ता है, वहीं दूसरी ओर प्रगति की दिशा और क्रिया का बोध भी कराता

है। जिस तरह प्रकृति अपने उद्भव के साथ तयशुदा यात्रा तय कर रही है, उसी तरह इतिहास (मानवीय कोशिशों और जानकारियों का क्षेत्र) भी एक निश्चित और प्रगतिशील यात्रा तय कर रहा है। इरफान हबीब बताते हैं कि (हबीब : 1999) फिशर जैसे इतिहासकार उपरोक्त बात से असहमत दिखते हैं, खास तौर से जब वे अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ यूरोप' के प्राक्कथन में कहते हैं कि प्रगति, प्रकृति का नियम नहीं है। वह यह नहीं मानते हैं कि इतिहास में कोई योजना, कोई लय, कोई सामंजस्य और पूर्व निर्धारित सांचा (पैटर्न) होता है। जबकि उनकी पुस्तक अपने आप में इस कथन का विरोध करती है (हबीब : 1999)। यहां यह कहना उचित होगा कि मुख्यधारा के यूरोपीय इतिहासकार वहां के कुछ प्रमुख दार्शनिकों की भांति मानवीय सीमा को उसकी भौतिक ताकतों के बाहर देख पाने में असमर्थ रहे हैं। इस मायने में भारतीय दर्शन काफी आगे जाता है, जिसमें कि मानवीय शक्ति पर एक तरह का अघोषित विश्वास किया जाता है।

मानवीय सभ्यता की अन्य तमाम भूमिकाओं के साथ–साथ एक महत्त्वपूर्ण भूमिका यह भी है कि वह इतिहास के पदचिन्हों को पहचाने और अतीत की चेतना की रोशनी में भविष्य के रास्तों का निर्धारण करे। यह स्थिति हमें इस बात की ओर बरबस सोचने को मजबूर करती है कि वर्तमान समाज में वे कौन–कौन से कारक मौजूद हैं जो अतीत की चेतना से हमें रू–ब–रू कराते हैं। इसका एक बड़ा स्रोत इतिहासकारों द्वारा लिखा गया इतिहास होता है और एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत वर्तमान सभ्यता की संरचना होती है। अगर हम अतीत को समझने और समझाने की जिम्मेदारी सिर्फ इतिहासकारों पर डाल देते हैं तो यह स्थिति न सिर्फ एक वर्ग को अत्यधिक जिम्मेदारियों तले दबा कर रखेगी बल्कि वह क्रमशः इतिहास के दायरे को संकुचित करती चली जायेगी। नतीजतन समाज के कई वर्गों की चेतना इतिहास की पकड़ से बहकती चली जायेगी और अन्ततः 'इतिहासकार' अपनी भाषा, कौशल और समझ से एक नयी राजनैतिक रचना करेंगे।

इतिहास के आधार और संवेदना को बढ़ाने के लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम न सिर्फ छूटे हुए वर्गों के इतिहास को चिन्तन में समेटें बल्कि उन वर्गों की ऐतिहासिक चेतना को भी दर्ज किया जाये। इस स्थिति में समाज का प्रत्येक हिस्सा अपने इतिहास को स्वयं रचेगा। यह सामाजिक हलचल दरअसल कुछ चुने हुए इतिहासकारों द्वारा केन्द्रीकृत ढंग से इतिहास लिखने की बौद्धिक तानाशाही के विरुद्ध इतिहास लेखन का

विकेन्द्रीकरण होगा। एक प्रजातांत्रिक समाज में अवधारणा के स्तर पर इसे हम इतिहास लेखन के जनतांत्रिकरण की प्रक्रिया कहेंगे। यहां हमें एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना को स्वीकार करना होगा, जहां समाज के प्रत्येक वर्ग के पास उसकी अपनी ऐतिहासिक चेतना होती है। यद्यपि कारोलन पोर्टर (1990 : 52) अपने लेख में यह सवाल उठाते हैं कि 'क्या फिर भी हम इतिहासमय हैं?' और इस सवाल का जवाब अपने इसी लेख के अन्त में देते हैं कि नहीं, हम इस समय इतिहासमय नहीं हैं क्योंकि इतिहास को लेकर हम कुछ चुने हुए बिन्दुओं पर ही टिके हैं। अभी भी इतिहास लेखन को लेकर हमारा रवैया बेहद केन्द्रीयकृत है और उसके फैलाव की जरूरत है। इतिहास लेखन के जनतांत्रिकरण की यह प्रक्रिया इस बात की मांग करती है कि हम इतिहासकारों और इतिहास के बीच के सरोकार को समझें। साथ ही इतिहास को समझने के संदर्भ में हमारी तात्कालिक जरूरत यह भी है कि यहां हम मोटे तौर पर इतिहास लेखन के इतिहास को देखते हुए आगे बढ़ें।

इतिहास लेखन का ऐतिहासिक पहलू

इतिहास लेखन जाहिर तौर पर अपनी परिभाषा के मुताबिक सभ्यता का पीछा करता हुआ चल रहा है। पहले सभ्यता का विकास होता है बाद में उस विकास का इतिहास लिखा जाता है। इतिहास सिर्फ उस समय की घटनाओं का वर्णन नहीं होता बल्कि यह उस दौर की चेतना से भी सराबोर रहता है। किसी भी दौर के तत्काल बाद जो इतिहास लिखा जाता है उस पर उससे तुरंत पहले की सामाजिक चेतना का जबरदस्त प्रभाव रहता है। राजा–रजवाड़ों के विकास के साथ यह तय हो गया था कि उनका इतिहास लिखा जायेगा। उस समय इन राजाओं और सामंतों की जीवनशैली ही सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व करती थी (विशेषकर भारतीय संदर्भ में)। चौदहवीं सदी, जिसे हम इन रजवाड़ों का स्वर्ण युग मान सकते हैं, के इतिहासकार जिया बरनी अपनी रचना 'तारीख़े फिरोजशाही' में, जैसा कि इरफान हनीष (1999) बताते हैं, यह कहता है कि – जो लोग अधम, अकुलीन, अशिक्षित लोग हैं, उनका इतिहास से कोई सरोकार नहीं हो सकता। समाज के ये वर्ग इतिहास की विधा सीखने से कोई लाभ नहीं उठा

सकते और यह विधा कभी भी उनके लिये उपयोगी नहीं हो सकती, क्योंकि इतिहास की विधा में होता है महान लोगों का वर्णन।

दरअसल जिस दौर में इतिहास को लेकर इस प्रकार की धारणा थी, उस दौर में आम आदमी की निजी जिन्दगी का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। राजाओं और सामंतों की जीवनशैली को बरकरार रखने के लिए अन्य वर्गों की भूमिकायें तय की जाती थी। प्रजातंत्र और व्यक्तिगत अहमियत की अवधारणा का दूर–दूर तक कोई नामोनिशां नहीं था। यद्यपि जिया बरनी उस समय भी इतिहासकारों के सरोकार को विस्तृत बनाये जाने पर जोर देते हैं लेकिन उनके विस्तार की परिभाषा या भावना भी तत्कालीन सामाजिक चेतना की परिधि को लांघ नहीं सकी। अपनी मशहूर पुस्तक 'तारीख' में जिया बरनी कहता है कि – इतिहास लिखने की एक महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि इतिहासकार की ईमानदारी उस पर दायित्व डालती है कि जब वह राजा या अभिजात्य वर्ग के अच्छे कार्यों के बारे में लिखे तो उनके कुकृत्यों को न छिपाये। बरनी को उद्धृत करने के पीछे कारण यह है कि हम समझ सकें कि किसी भी दौर का इतिहासकार उस समय की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। बल्कि यूं कहें कि हर दौर का इतिहासकार उस दौर की एक न्यूनतम चेतना को समेटता हुआ चलता है।

ई.एच. कॉर (1961) के दर्शन को आधार बनायें तो कह सकते हैं कि ऐतिहासिक घटनायें जहां एक ओर इतिहास की विषयवस्तु को प्रभावित करती हैं तो वहीं दूसरी ओर यह 'इतिहास लेखन' की चेतना का आधार भी बनती हैं। विशेषकर भारतीय संदर्भ में देखें तो जब अंग्रेज भारत में 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपना रहे थे, उस दौर में जाति–व्यवस्था और धार्मिक टकराव इतिहासकारों के विश्लेषण का प्रिय तथ्य हुआ करते थे, (हबीब, 1999)। एक और घटना को देखते हैं जिसने विश्व भर के इतिहासकारों को प्रभावित किया। वह थी फ्रांस की राज्य क्रान्ति। जैसा कि हेनरी (1962 : 461) का मानना है कि हम बरबस इसे मानवीय सभ्यता का वह निर्णायक मोड़ (सायास या अनायास) मान लेते हैं, जहां से उपजी चेतना ने सत्ता–प्रतिष्ठानों को इस बात के लिए मजबूर किया कि वह आम आदमी को अपनी संरचना के केन्द्र में रखे (यद्यपि इस तथ्य की खोजबीन की जानी चाहिए, विशेष तौर से उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी नीतियों के मद्देनजर– यह इस पुस्तक की सीमा के बाहर है)। इसके तत्काल बाद वह स्थिति आयी

जब इतिहास लेखन के विमर्श में जनसमुदाय, हाशिये पर ही सही, शामिल हुआ। 19वीं सदी के अन्तिम वर्षों और 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में हमें साम्यवादी इतिहास लेखन की झलक मिलनी शुरू हो जाती है तो उसका एक बड़ा कारण यह था कि उस समय मार्क्सवाद एक ऐसे विचार के तौर पर उभरा जिसने सभ्यता के एक बड़े हिस्से को तटस्थता की नीति छोड़ने पर विवश कर दिया, (मार्क्स : 1848)। 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महिलाओं के अधिकार को लेकर जो चर्चा शुरू हुई, उस प्रक्रिया का परिणाम इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महिलावादी इतिहास लेखन की एक मुकम्मल धारा के तौर पर देखने को मिलता है।

किसी विशेष चेतना या किसी खास दृष्टि से इतिहास का लिखा जाना महज़ एक संयोग या फिर किसी की व्यक्तिगत बौद्धिक कवायद नहीं होती है। हां, इतिहासकार वह जरिया जरूर होता है जिसके माध्यम से मानवीय सभ्यता अपनी चेतना को प्रकट करती है (भारत के आज़ाद होने के बाद इतिहास लेखन की राष्ट्रीय परियोजना को इस संदर्भ में समझने की जरूरत है)। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में समाज के अनेक तबकों खास तौर से वंचितों और उपेक्षितों का इतिहास लिखने की बात जबरदस्त तरीके से उठायी गयी। यह स्थिति दरअसल इसके तत्काल पहले के उपनिवेशवाद के विरोध में पनपे मानवीय संघर्ष की अभिव्यक्ति थी।

बीसवीं सदी के मध्य में जब साम्राज्यवाद की जड़ें बिखर रही थीं, उस दौर में मानव के व्यक्तिगत अधिकार की वकालत पुरजोर तरीके से की गयी। यद्यपि मानवाधिकार के मुद्दे को लेकर भी एक खास तरह की बाजारवादी नीति तय की गई, लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि बीसवीं सदी के मध्य तक लगभग समूचा विश्व इस बात से सहमत था कि प्रत्येक व्यक्ति के कुछ न्यूनतम अधिकार जरूर होने चाहिए। इस स्थिति ने समाज के प्रत्येक व्यक्ति और छोटे–छोटे वर्गों को उनकी पहचान दी है। मानव के अधिकार की चेतना का यह उभार दिन–प्रतिदिन निखरता जा रहा है। यद्यपि कई प्रतिगामी घटनायें भी साथ–साथ चल रही हैं। बहरहाल, तमाम बातों के बावजूद यह तय है कि सिद्धांत के तौर पर ही सही कई राष्ट्र या संस्थायें मानव के कुछ बुनियादी अधिकारों को बनाये रखना चाहते हैं।

इतिहास का प्रत्येक अध्याय कई ऐसी घटनाओं की शृंखला होता है जो स्वयं अपने आप में इतनी सूक्ष्म होती हैं कि अलग से उनका विशेष

मतलब नहीं लगाया जा सकता (स्टेनफोर्ड : 1994, 53)। ऐसी स्थिति में इतिहासकार विचारधारा या फिर दृष्टिकोण के धागे से घटनाओं को बुनता है। इतिहास लेखन को किसी विचार से संचालित होने को अक्सर एक विडम्बना की तरह देखा जाता है। लेकिन जैसे ही हम इतिहास लेखन की प्रक्रिया को ऐतिहासिक घटनाओं में शामिल करते हैं हमारी यह दुविधा कम होती चली जाती है कि इतिहास का किसी विचारधारा से जुड़ाव होना चाहिए या नहीं। इतिहास लेखन और सभ्यता की चेतना ने लगभग साथ–साथ अपनी करवटें ली हैं।

उन्नीसवीं सदी में जब इतिहास लेखन एक व्यवस्थित तरीके से उभर कर सामने आया तब उसके केन्द्र में राष्ट्रवाद की विचारधारा प्रमुख तौर पर मौजूद थी। उसके बाद का दौर जहां एक ओर हमें साम्राज्यवाद के यथार्थ से रू–ब–रू करा रहा था वहीं दूसरी ओर साम्यवाद का रूमानी ख्याल अपने पूरे उफान पर था। इस दौर में दो तरह के इतिहासकारों से हमारा साबका रहा। पहले वे थे जो यह मानकर चलते थे कि प्रत्येक वर्ग का एक राष्ट्र होना चाहिए और उसके जरिये उसके कुछ अधिकार, खास तौर से पूंजी के अधिकार, सुनिश्चित होने चाहिए। वर्ग की परिभाषायें उस दौर की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक स्थितियां तय कर रही थीं। इतिहासकारों का दूसरा तबका राष्ट्र राज्य की सीमाओं से परे व्यक्तियों के बीच समानता की वकालत करता था। इस टकराहट के फलस्वरूप न सिर्फ इतिहास और विचारधारा पर हो रहे विमर्श का फैलाव बढ़ा बल्कि इतिहास के स्वरूप का आधार भी व्यापक हुआ। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इतिहास लेखन की जो कई धारायें दिखती हैं वे इसी मानवीय द्वन्द्व की उपज हैं। कई इतिहासकारों ने इस फैलाव को इतिहास का दूषण बतलाया जबकि दूसरी ओर एक अलग तरह के इतिहासकारों ने इसे 'सामाजिक इतिहास' की संज्ञा दी तथा इसे निम्न वर्ग का इतिहास कहा, (आमीन व पाण्डेय : 1997)।

सामाजिक इतिहास

सामाजिक इतिहासकार कई मायने में अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों से अलग थे। मसलन 1815 से 1914 तक के इतिहासकारों का अधिक जोर 'गोरे वयस्क पुरुषों' (आऊटवेटी व अन्य : 1993, 595–96) तक ही सीमित था

(भारतीय संदर्भ में इसे 'सवर्ण–वयस्क पुरुष' माना जा सकता है यद्यपि इस पर विवाद है)। सामाजिक इतिहास के लेखन में वे लोग भी बतौर जिक्र के सम्मिलित हुए जो सत्ता सोपान के निचले क्रम पर थे। ई.पी. थामसन और कई अन्य इतिहासकारों ने इसे इतिहास को नीचे से देखने की प्रक्रिया बतलाया। विभिन्न इतिहासकारों ने सामाजिक इतिहास को लेकर अलग–अलग मत जाहिर किये हैं। कार्ल ई. शॉर्क (1998 : 33) कहते हैं कि अतीत में इतिहास लेखन पिछली संस्कृतियों को सतत् परिवर्तनशील एवं गतिमान रूप में पकड़ने की प्रक्रिया थी, किन्तु बाद के परिवर्तनों ने सामाजिक इतिहासकारों को अतीत के उस दूसरे पक्ष की ओर आकर्षित किया जिससे वे एक कालखण्ड विशेष की स्थित राशि में सम्पूर्ण संस्कृति के सभी वर्गों, विशेषकर वंचित वर्गों के इतिहास लेखन के इच्छुक बनें। इतिहास लेखन में आये इस बदलाव ने अतीत के सम्बन्ध में हमारी चेतना की एक आयामी दृष्टि को बहु–आयामी विमर्श में बदल पाने में काफी हद तक कामयाबी हासिल की। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि आने वाले समय में इतिहास के अध्ययन में कई और आयाम जुड़ते चले जायेंगे। लेकिन फिलहाल तो स्थिति यह है कि इतिहास लेखन में आ रहे इस बदलाव को अपनी जगह बनाने के लिए जूझना पड़ रहा है।

इतिहास लेखन की पवित्रता को लेकर एक लम्बी बहस चली है। यह प्रश्न इतिहासकारों द्वारा लगातार किया जाता रहा है कि हम किस प्रक्रिया को ऐतिहासिक मानें।

जी.सी. कौलीग बुड (1946 : 228) अपनी पुस्तक 'आइडिया ऑफ हिस्ट्री' में यह तर्क रखते हैं कि ऐतिहासिक प्रक्रिया और प्राकृतिक प्रक्रिया के बीच पनपे भ्रम की वजह से ही तमाम तरह की ऐतिहासिक भ्रान्तियां अभी तक प्रवाहमान हैं। सवाल यह है कि हम इतिहास किसे मानें – विषय के रूप में एक अध्ययन शाखा को, जिसे शब्दों के माध्यम से लिपिबद्ध किया गया है, या फिर मानवीय चेतना और संघर्ष की महान विरासत को। क्या इतिहास सिर्फ अतीत का वह हिस्सा है जिसे कोई 'इतिहासकार' लिखता है? विशेष तौर से जब हम सामाजिक इतिहास की बात करते हैं तो हम इसे आज की सामाजिक संरचना के संदर्भ में तलाशने की कोशिश करते हैं। यहां यह स्पष्ट करना जरूरी है कि बहुधा सामाजिक इतिहास और ऐतिहासिक समाजशास्त्र में फर्क करना मुश्किल हो जाता है। लेकिन इतिहास और समाजशास्त्र के इस विलय का हमेशा स्वागत नहीं किया गया। लॉन हॉन्ट

(1990) अपने लेख 'सामाजिक सिद्धांत के परे इतिहास' में यह बताते हैं कि सामाजिक इतिहास, सामाजिक सिद्धांत द्वारा इतिहास को दूषित करने का सहज परिणाम है। जिस प्रकार प्रत्येक समाज का प्रभु वर्ग और मध्य वर्ग सामाजिक कायदे–कानून का बड़ा पक्षधर होता है उसी तरह किसी भी विषय के 'पण्डित' बहुधा उस विषय, (शाखा) की 'पवित्रता' इत्यादि बनाये रखने के जबरदस्त पक्षधर होते हैं। लेकिन इस बात की गुंजाइश हमेशा रही है और रहेगी जिससे नये विचार अपनी जगह बनाते रहेंगे।

मानवीय मूल्यों के प्रति बदलती हुई चेतना के मद्देनजर इतिहास लेखन के रूझान में जबरदस्त परिवर्तन आये। इसकी वजह से यह जरूरत महसूस की गयी कि इतिहास को एकीकृत ढंग से समझा जाये। हॉब्सवॉम (1995) ने अपनी पुस्तक 'दि एज ऑफ एक्सट्रीम्स : द शॉर्ट टवेन्टीअथ सेन्चुरी' में यह बात विस्तारपूर्वक समझायी कि – आधुनिक विश्व इतिहास की एक सम्पूर्णकारी व्याख्या पर राय जाहिर करना विभ्रमग्रस्त बुद्धिजीवियों की महज एक जिद भरी सनक नहीं है। यह स्वयं इतिहास की प्रकृति द्वारा आनुभाविक तौर पर उपस्थित की गयी एक आवश्यकता है। जाहिर सी बात है कि आज मानवीय अधिकारों के प्रति फैली जागरूकता की वजह से तमाम वर्ग और उसके शोषण के कारणों की पड़ताल शुरू हो गयी है। आज जो प्रश्न है उसका उत्तर पाने के लिए हमें फिर से इतिहास को 'आज की दृष्टि' से देखना होगा, इसलिए सत्य यह है कि हर पीढ़ी को अपने लिए इतिहास स्वयं रचना होता है (ई.एच. कार : 1961)।

आज जब हम ऐतिहासिक घटनाक्रम के मद्देनजर उपेक्षित वर्ग, खास तौर से भारतीय संदर्भ में जब महिला, विकलांग, आदिवासी, दलित, बच्चों, बेरोजगार युवाओं, गरीबी रेखा के नीचे ज़ीवन बसर करने वाले किसान व मजदूर इत्यादि की बात करते हैं, तो वह आज की सामाजिक मांग है।

इतिहास लिखने का मामला दुनिया की बदलती हुई तस्वीरों से जुड़ा हुआ है। बदलते हुए हालात ने शासक वर्ग को मजबूर किया कि वह अपने आधार को और ज्यादा व्यापक करें। आबादी के बड़े हिस्से को नजरअंदाज कर कोई भी वर्ग जनतांत्रिक होने का ढोल नहीं पीट सकता। इस इतिहास को समझने के लिए हमें उस सामाजिक ताने–बाने और संरचना पर बारीक नजर दौड़ानी होगी जिनके बीच हाशिये के ये लोग जीने को बाध्य हैं। कोई भी सामाजिक गतिविधि अपने आप को पुनः उत्पादित करती है। किसी भी दौर में हुआ उत्पीड़न अगली पीढ़ी में भी उसके बीज को रोपता हुआ जाता

है। मसलन अगर हम आज की तारीख में नारी उत्पीड़न के सवाल को मुकम्मल तरीके से समझना चाहें तो इसके इतिहास पर गौर करना होगा। हाशिये पर जी रहे वर्गों की वर्तमान सामाजिक स्थिति एक लम्बे दमन और उत्पीड़न का परिणाम है। यहां हम जिस तरह के इतिहास की बात करेंगे उसमें हम उन कड़ियों को पहचानने की कोशिश करेंगे जो एक जंजीर बनकर आज हाशिये के लोगों के इर्द–गिर्द लिपटी हुई है।

उत्पीड़न के दस्तावेज : बचपन और इतिहास

वर्ष 2000 और उसके बाद इतिहास लेखन का जो विवाद हुआ वह बच्चों को पढ़ाये जाने वाले इतिहास को लेकर हुआ। लेकिन दोनों ही पक्षों ने इतिहास में बच्चों की उपस्थिति को लेकर खामोशी ही बरती। इतिहास के विषय के रूप में जो पुस्तक हमें उपलब्ध है उसमें 'हाशिये के लोगों' खास तौर से बच्चों की उपस्थिति, नामालूम–सी है। मसलन, सुमित सरकार (1992) की पुस्तक 'आधुनिक भारत' को पढ़कर हम उस समय के भारत में बच्चों का चित्रण करना चाहें तो हमें पुस्तक में नहीं लिखे गये तथ्यों का सहारा लेना होगा। एक भी ऐसा अध्याय नहीं है जिसमें बच्चों की अलग से चर्चा की गयी हो। लेखक की नजर में चार सौ छियासी पन्नों में महज चार जगह, चार वाक्यों में बच्चों का जिक्र आया है, वह भी निहायत गैर–महत्त्वपूर्ण तरीके से। जाहिर–सी बात है कि उस दौर में बच्चों की भूमिका और उन पर उस दौर का क्या असर पड़ा, यह उस समय की राजनैतिक चेतनाओं में सम्मिलित नहीं था। यही कारण है कि सुमित सरकार जब आधुनिक भारत का इतिहास लिखते हैं तो वह हाशिये के लोगों, खास तौर से बच्चे की भूमिका को सहज तौर पर विस्तार देने की कोई कोशिश नहीं करते। विशेष तौर से बच्चों का इतिहास लिखना एक बात होगी और इतिहास की मुख्य पुस्तक में उनको जगह देना दूसरी बात होगी।

इरफान हबीब (1999) ने अपनी पुस्तिका 'भारतीय इतिहास की प्रमुख व्याख्याएं' में इतिहास की विभिन्न धाराओं और व्याख्याओं का जिक्र किया है। उनका मानना है कि इतिहास की अधिकांश व्याख्या श्रम विभाजन और सांस्कृतिक संरचना को ध्यान में रख कर की गयी है। ऐसी परिस्थिति में अगर हमारे इतिहासकार वंचितों के एक समूह को पर्याप्त जगह नहीं देते हैं

तो यह अपने आप में कई सवाल खड़ा करता है। मसलन क्या हम संस्कृति को वंचितों की जीवनशैली से अलग करके देखते हैं? इनकी जीवनशैली और उत्पादन व्यवस्था के बीच जो सम्बन्ध है वह हमारी ऐतिहासिक व्याख्या का मुख्य आधार क्यों नहीं बनता? अगर इतिहास की मुख्य पुस्तकें बच्चों को जगह नहीं देती हैं तो सवाल यह है कि उनकी भागीदारी किन दस्तावेजों के जरिये सुनिश्चित होगी?

इतिहास, अतीत को जानने का अकेला रास्ता नहीं है। समकालीन सामाजिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में वंचितों को समझने के लिए, हम इन संदर्भों से जुड़े हुए अन्य दस्तावेजों को टटोल सकते हैं जो मूल तौर पर 'इतिहास' से अब तक उपेक्षित रहे। ऐसी ही अन्य पुस्तकें भी लिखी गयीं जो शास्त्रीय तौर पर इतिहास की न होते हुए भी अतीत की चेतना और उत्पीड़न की दास्तां को समेटे हुए होती हैं।

हाशिये के लोगों का इतिहास, जिसे कई इतिहासकारों ने निम्नवर्गीय इतिहास भी कहा है, न सिर्फ वंचित वर्गों को केन्द्र में रखकर अपने विश्लेषण को आगे बढ़ाता है बल्कि इसके तथ्यों के चुनाव में भी ऐसी बारीकी बरती जाती है ताकि उस वर्ग विशेष की संवेदनायें बरकरार रहें। कई बार तथ्यों का चयन मात्र इतिहास की पूरी रूपरेखा को प्रभावित करता है। शुद्ध तथ्यों की पवित्रता तब घटने लगी जब यह महसूस किया जाने लगा कि तथ्यों का अध्ययन ही वास्तव में इतिहास का निर्माण करता है, या जैसा कि कुछ लोगों का तर्क है जिसे तथ्य कहा जाता है वह भी इतिहासकार द्वारा जमा की गई सूचना मात्र है (थापर, 1991, 11)। आम तौर पर वंचित वर्गों के इतिहास लेखन में सरकारी दस्तावेजों से परहेज किया जाता है क्योंकि मान्यता यह है कि ये दस्तावेज न सिर्फ प्रभुत्वशाली वर्ग के नियंत्रण में तैयार होते हैं बल्कि अक्सर यह वर्ग अपने हितों के मुताबिक तथ्यों से खिलवाड़ करता नजर आता है।

जब हम वंचितों को केन्द्र में रखकर इतिहास लेखन की बात करते हैं तो हमें एक साथ कई विरोधाभासों का सामना करना पड़ता है। जैसा पहले कहा गया कि हम जिन तथ्यों का चुनाव करते हैं वे तथ्य अक्सर वर्चस्वशाली समाज की धारणाओं से ओत–प्रोत होते हैं। इन तथ्यों का विश्लेषण भी इन्हीं अतिवादी मस्तिष्कों के नियंत्रण में होता है जो जाति–प्रथा, धार्मिकता, नस्ल–भेद, लैंगिकता, आर्थिक विषमता, भाषा–भेद जैसे कई पूर्वाग्रहों से ग्रसित होते हैं। विचारधारा के स्तर पर सोचने के जितने आयाम हमने खोल

रखे हैं उनमें से अधिकांश वर्चस्ववादी रूढ़ियों से ग्रसित हैं। मसलन जब हम संरचनावाद की बात करते हैं तो हम किसी भी तथ्य का विश्लेषण एक संरचना विशेष के संदर्भ में कर रहे होते हैं, आम तौर पर ये संरचनायें समाज में वर्चस्वशाली समुदाय द्वारा ही रची–बुनी होती हैं। यह सहज ही है कि ऐसे विश्लेषणों के नतीजों में वंचितों की कोई सार्थक और सही उपस्थिति नहीं हो पाती है।

तथ्यों का चुनाव और उसके भाषाई रूपान्तरण की वजह से यह बहुत कठिन हो जाता है कि तथ्यों को अभिजात्यवादी नियंत्रण से मुक्त रखा जा सके। बहुधा होता यह है कि भाषा, तथ्यों की संवेदना को उत्पीड़क और शोषक व्यवस्था के पक्ष में मोड़ देती है। क्योंकि जिस प्रकार समाज की संरचना कुलीन वर्ग को केन्द्र में रखकर तैयार की जाती है उसी तरह भाषा भी इसी वर्ग की भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए तैयार की जाती है। नतीजतन प्रत्येक वंचित वर्ग न सिर्फ अपने इतिहास लेखन के लिए बल्कि मुक्ति के लिए भी प्रभुत्वशाली वर्ग पर आश्रित होता है। यही कारण है कि जॉक देरिदा (1984, 11) कहते हैं कि उन्हें 'मुक्ति' जैसे शब्दों को इस्तेमाल करने में ही संकोच होगा। इसके बावजूद इतिहास को समझने और लिखने का एक महत्त्वपूर्ण जरिया भाषा ही रही है और रहेगी। इस द्वन्द्व को पाटने के लिए इतिहास की 'मानक' जानकारियों से अलग हट कर कई ऐसी रचनायें रची जाती हैं जो उत्पीड़न के ऐतिहासिक दौर को बयान कर सकने की स्थिति में होती हैं। बच्चों के लिए इतिहास और बचपन के इतिहास में क्या सम्बन्ध हो सकता है – यह शिक्षणशास्त्रीय सवाल है जिस पर पूरे विवाद में खामोशी रही। आगे बढ़ने से पहले यहां हम बच्चों और उनके उत्पीड़न के संदर्भ में लिखी गई कुछ रचनाओं को देख सकते हैं। फिलीप्स ऐरीज (1962) की पुस्तक 'सेन्चुरी ऑफ चाईल्डहुड' में इस बात को काफी विस्तार से बताया गया है कि 18वीं सदी की शुरुआत तक बच्चों की चर्चा आम बातचीत में नहीं की जाती थी (इस विवाद में भी चर्चा बचपन पर नहीं हुई)। यह पुस्तक यूरोपीय पृष्ठभूमि में लिखी गयी है। ऐरीज अपने विश्लेषण के जरिये इस तथ्य को सामने लाया है कि क्यों बच्चों की चर्चा आम बातचीत में नहीं की जाती थी। उस दौर में जब बाल मृत्यु दर काफी अधिक थी, तो यह बात यकीन से परे थी कि लोग यह मानकर चलें कि प्रत्येक बालक बचा रहेगा। नतीजतन बच्चों को सार्वजनिक जीवन में शामिल तब माना जाता था जब वे चौदह–पंद्रह वर्ष की उम्र सीमा पार कर लेते थे। इस

'सामाजिक व्यवहार' का असर आज भी हम बच्चों की जिन्दगी में देख सकते हैं। बच्चे शुरुआत के चौदह–पंद्रह वर्ष भावी जिन्दगी की तैयारी में लगाते हैं गोया लड़कपन का अपने आप में कोई वजूद ही न हो। बचपन के इतिहास पर बहुत कम पुस्तकें लिखी गईं। उससे ज्यादा पुस्तकें बचपन के वर्तमान पर हैं और सबसे ज्यादा बच्चों और भविष्य पर। यह अपने आप में बच्चों को लेकर वयस्कों के मनोभाव को बताता है।

समकालीन भारतीय सामाजिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में वंचितों खास तौर से बच्चों को समझने का एक और महत्त्वपूर्ण तरीका यह हो सकता है कि हम वर्तमान सामाजिक संरचना पर गौर करें। कृष्ण कुमार (1978) ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'राज, समाज और शिक्षा' में विस्तारपूर्वक इस बात को समझाया है कि 'बच्चों के संदर्भ में वयस्क समाज अव्वल तो कोई विचारवान नीति ही नहीं रखता और अगर कहीं कोई व्यवस्थित नीति दिखती भी है तो वह भी बच्चों के समाजीकरण की नहीं, सैन्यीकरण की चेष्टा कर रहे होते हैं।' भारत में बच्चों के संदर्भ में राज्य की नीतियों को लेकर एक ऐसा ही व्यवस्थित अध्ययन मायरन वीनर ने किया है। उनका मानना है कि बच्चों की वर्तमान स्थिति यहां के ताकतवर वर्ग के दुष्कर्म और समाज की सामूहिक उपेक्षा का परिणाम है न कि एक सहज स्थिति (मायरन : 1997)।

वर्तमान संरचनाओं की तहकीकात हमें समाज के वंचित तबकों, उनके उत्पीड़न के इतिहास की जानकारी देती है। कई बार जब हमारे पास 'तथ्य' के नाम पर कोई ऐतिहासिक प्रमाण जैसी चीज न भी हो तो भी हमें इतिहास की चेतना की जानकारी वर्तमान संरचनाओं से काफी–कुछ मिल जाती है। भाषा की सरंचनाओं पर गौर करें तो महिलाओं के उत्पीड़न की पुरी दास्तां समझ में आने लगती है। इतिहास की मानक पुस्तक में हमें उत्पीड़न की उतनी सटीक जानकारी मिलती है जितनी कि समकालीन कलाकृतियां तथा अन्य रचनाएं। बचपन को भी हम इस तर्ज पर समझ सकते हैं।

एक हिन्दू दम्पत्ति का बच्चा बगैर किसी विवाद के हिन्दू बना दिया जाता है। मुसलमान घर में पैदा हुआ बच्चा एक तरपफ कुपोषण से जूझ रहा होता है तो दूसरी ओर 'रोजा' रखना सीख रहा होता है। वयस्क समाज में चल रहे अधकचरे विचारों को जबरदस्ती बच्चों के दिलो–दिमाग में ठूंस दिया जाता है। यद्यपि यह आश्चर्य का विषय नहीं है पर एक सच है कि चुनावों में बच्चों के मत डालने पर तो प्रतिबन्ध है लेकिन उनको चुनावी

रैलियों में शामिल करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। क्या बड़ों को केवल इस बिना पर बच्चों का नियंता बना दिया जाना चाहिए क्योंकि वे उनका पालन–पोषण कर रहे होते हैं। बच्चों को बड़ों द्वारा 'नियंत्रित' करने का मामला कुछ इतना सहज हो चला है कि हम आंख के सामने घटती हुई किसी अन्यायपूर्ण घटना को यूं ही देखकर नजरअंदाज कर जाते हैं। इसलिए जब हम एक बच्चे को सार्वजनिक नल से पानी पीते हुए देखते हैं तो हमें उसमें कोई अन्याय या उत्पीड़न की प्रक्रिया नजर नहीं आती जबकि नल की ऊंचाई बच्चों की पहुंच से काफी दूर होती है। संवेदना तंतु को वंचितों के परिप्रेक्ष्य में रखकर महसूस करना काफी मुश्किल है किन्तु असम्भव नहीं। हालांकि यह 'मुश्किलात' भी अपने आप यही बताती है कि वंचितों की दुनिया और वर्चस्वशाली समाज आपस में किस कदर दूर हैं।

वंचितों को लेकर की जाने वाली चिंतायें इस बात से ज्यादा जुड़ी हुई होती हैं कि सत्ताशाली वर्ग भविष्य में कैसे नागरिकों को चाहता है। हमारा सरोकार ज्यादातर वंचितों के सामाजिक व्यवहार से ही जुड़ा होता है। इतिहास का यह विवाद भी एक राजनैतिक सवाल ही था कि हम भविष्य में किस तरह के नागरिक चाहते हैं। यह विवाद हमें पूर्णता के साथ तब समझ में आयेगा जब हम सापेक्षिक तौर पर यह देखे सकें कि बच्चे पहले कौन–सा इतिहास पढ़ते थे। क्या इतिहास की पुरानी पाठ्यपुस्तकें बचपन के इतिहास पर कोई समझ बनाती थीं?

ताकि सनद रहे

जिसे हम इतिहास का विवाद मान रहे थे, वह बचपन पर नियंत्रण के जरिये भविष्य की राजनीति में बढ़त बनाने की लड़ाई थी। इतिहास का इतिहास यह बताता है कि दोनों ही पक्ष एक खास राजनैतिक इतिहास लिखना चाहते थे या बनाये रखना चाहते थे। इतिहास के इस विवाद में एक महत्त्वपूर्ण पक्ष 'बच्चा' था जिसे इतिहास पढ़ाये जाने की बात चल रही थी। लेकिन हमारे समाज और इतिहासकारों की तरह ही मीडिया जगत की संवेदना में उपेक्षा और उत्पीड़न की जो समझ है उसमें बचपन बामुश्किल ही शामिल हो पाता है क्योंकि एक तो मीडिया का अपना नियंत्रण 'वयस्क मूल्यों' के मद्देनजर सम्पन्न होता है दूसरे बच्चों की सत्तागत स्थिति इतनी कमजोर है कि संरचना की जटिलताओं को पार कर पाना उनके लिए काफी मुश्किल है। इसलिए इस विवाद का यह पहलू किसी बड़े विमर्श का आधार नहीं बनता कि आखिर हम बच्चों को वह सब कुछ क्यों रटवाना या नहीं रटवाना चाहते हैं जो हमारी समझ में 'महत्त्वपूर्ण' या 'गैर–महत्त्वपूर्ण' है। इस प्रक्रिया में बच्चे कहां हैं और हाशिये के बाकी लोग कहां हैं?

वर्चस्व का सवाल राजनैतिक नियंत्रण से तो जुड़ता ही है उससे भी ज़्यादा यह मानसिक तौर पर नियंत्रण करने का मामला भी है। इतिहास को लेकर जो विवाद चला वह ठीक–ठीक क्या था इसकी जानकारी हमें तब और ज़्यादा मिलती है जब हम उस वर्ग विशेष (बच्चों) को इतिहास 'सिखाने' के उद्देश्यों पर गौर करते हैं। लेकिन आगे बढ़ने से पहले यहां दो बातें स्पष्ट करना जरूरी है कि बचपन अपने आप में एक उपेक्षित राजनैतिक व सामाजिक स्थिति है और हमारा समाज मूलतः वयस्कों का समाज है। जहां प्रत्येक बच्चे को दिन–प्रतिदिन वयस्क बनने का प्रशिक्षण दिया जाता है। दूसरी बात यह है कि बचपन वह आदर्श स्थिति है जब प्रभुत्वशाली वर्ग अपने अनुष्ठान और कर्मकांडों की बदौलत इन बच्चों को अपनी 'व्यवस्था'

के पुर्जों की तरह विकसित करता है।

बचपन की कमजोर सामाजिक स्थिति के चलते बच्चे को मशीन के पुर्ज़े में बदलना बड़ा आसान काम होता है। इसके लिए अन्य तमाम तरीके तो आजमाये ही जाते हैं, उनके अलावा बच्चों के समक्ष जिस इतिहास को परोसा जाता है वह इतिहास उनकी अपनी पहचान को भी नष्ट करता है। साथ ही उस वृहत्तर वर्ग (हाशिये के लोग) को भी उनकी चिन्ताओं में सम्मिलित नहीं होने देता है जो कि ऐतिहासिक तौर पर उत्पन्न की गयी स्थितियों के बीच एक मजबूर और लाचार जिन्दगी जीने को बाध्य हैं। बचपन को सबसे पहले 'वयस्क समाज' (इसका वर्चस्वशाली हिस्सा) पहचान के स्तर पर समाप्त करता है। उसके बाद उनके लिए यह बड़ा आसान हो जाता है कि वह इन बच्चों को जिस तरह से चाहे उस तरह से तैयार करें।

हिटलर, तालिबान इन सबों ने बचपन की इस स्थिति को 'समझा' और उसका राजनैतिक इस्तेमाल किया। बच्चे हमेशा से ही वर्चस्व की लड़ाई में पूर्व तैयारी का स्थल रहे हैं। वर्चस्वशाली ताक़तों के लिए बच्चों के 'शिक्षण' का ऐसा इंतजाम किया जाता रहा है कि वे भविष्य में अपने आकाओं के लिए अच्छे 'सेवक' साबित हो सकें। इससे बच्चों का जो निजी अधिकार है वह तो समाप्त होता ही है साथ ही वह बड़ी लड़ाई भी कुंद पड़ती है जो एक बड़े वर्ग को लगातार वंचित और उत्पीड़ित रखने के विरुद्ध लड़ी जाती है।

हमारी पहचान या फिर छवि उन गतिविधियों पर आधारित होती है जिन्हें हम दैनिक जीवन में अपनाते हैं या अपनाने के लिए बाध्य कर दिये जाते हैं। इन गतिविधियों में कहीं–न–कहीं एक ऐसा संघर्ष, ऐसी छटपटाहट भी देखने को मिलती है जो वर्ग विशेष द्वारा अपनी पहचान बनाने के लिए की जाती है। पहचान बनाने की यह जद्दोजहद ज्ञान की खोज के लिए प्रेरित करती है। इस तरह की खोज में हमारी जानकारी और तहकीकात का एक बड़ा स्रोत वे घटनायें होती हैं जिनसे हमारा समाज या इस तरह का कोई अन्य समाज कभी न कभी जूझा होता है, या फिर जूझ रहा होता है। इस मायने में न सिर्फ अपने इतिहास का अध्ययन बल्कि अन्य वर्गों के इतिहास का अध्ययन भी ज्ञान की खोज और विश्लेषण का औजार बनते हैं। ऐसा अक्सर होता है जब किसी वर्ग या समूह की चेतना को विकृत या समाप्त करना हो तो उनके ऊपर किसी अन्य वर्ग या समाज के इतिहास को लादा

जाता रहा है। साम्राज्यवादी ताकतें अपने उपनिवेशों को अक्सर अपना इतिहास पढ़ने के लिए मजबूर करती हैं (थयोंगो न्युगी वा – औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, 1999)।

इन परिस्थितियों में वह वर्ग जो अपनी ही तरह के लोगों के इतिहास से वंचित रहता है, मजबूरी में अपनी समस्याओं का हल दूसरे के इतिहास (अनुभव) में तलाश करता है। यह स्थिति न सिर्फ उस वर्ग के लोगों को स्वतंत्र रूप से समस्या की तह तक पहुंचने में रुकावट पैदा करती है बल्कि उस पूरे वर्ग की अपनी कोई विशिष्ट चेतना और पहचान भी नहीं बनने देती है। 'गरीब बच्चों की शिक्षा' (एवांलास : 1999) की प्रस्तावना लिखते समय कृष्ण कुमार कहते हैं कि ''बीट्रीस एवांलास की यह पुस्तक हमें इस बात की याद दिलाती है कि अपने–जैसे समाजों को समझना कितना उपयोगी हो सकता है''। इस बात का खासा महत्त्व है कि जब कोई समुदाय या वर्ग अपनी पहचान और स्थान बनाने की कोशिश में हो तो वह अपने–जैसे लोगों का इतिहास पढ़े।

शुरू से ही हमारी चर्चा में यह शामिल रहा है कि हाशिये के लोगों की एक लामबंद वर्ग के रूप में उपस्थिति बड़ी क्षणिक होती है। गह भी तय है कि इन वर्गों में वर्ग परिवर्तन की कोशिशें लगातार चलती रही हैं। स्थिति बड़ी अजीब है, भीड़ भरी रेल में घुसने को बेताब यात्री, अंदर घुसने के साथ, बाहर वालों को रोकना शुरू कर देता है। बहरहाल हम यहां किसी वर्ग द्वारा अपनाये जा रहे उस व्यवहार की चर्चा कर रहे हैं जिसकी मार्फत वह अपनी पहचान बनाता है। पहचान बनाने की इस प्रक्रिया में किसी भी वर्ग का चिंतन स्रोत एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जाहिर है अगर हम किसी वर्ग की 'पहचान की लड़ाई' को समझना चाहें तो उस वर्ग के चिन्तन स्रोत को भी पकड़ना होगा। चिन्तन के तमाम स्रोतों में से एक महत्त्वपूर्ण स्रोत वो इतिहास होता है जिसका अध्ययन कोई भी वर्ग कर रहा होता है। इस प्रकार देखा जाये तो किसी भी वर्ग द्वारा पढ़ा जाने वाला इतिहास इसमें एक अहम् भूमिका निभाता है कि उस वर्ग की सामाजिक छवि या हैसियत क्या है।

इतिहास के संदर्भ में हमारी अधिकांश समझ उस दौर में बनती है जब हम अपने वातावरण के जरिये दुनिया को समझ रहे होते हैं। 'हाशिये के लोगों' को चाहे जिस कारण से भी हाशिये पर रहना पड़ रहा हो लेकिन एक वजह उन सभी में समान होती है। वह है कि उनमें से प्रत्येक उत्पीड़न की

उस स्थिति से गुजरा होता है जिसे हम 'बचपन' के नाम से जानते हैं। उत्पीड़न के इसी दौर में उस चेतना को समाप्त करने का प्रयास होता है जिसका सरोकार समाज के वंचित तबके से रहा है। वर्चस्वशाली समुदाय का हमेशा यह प्रयास रहता है कि 'लोग' उसका इतिहास जानें, उसके इतिहास को समझें और उसके इतिहास को याद रखें।

बात समाप्त करने से पहले हम यह परखना चाहेंगे कि बच्चे इतिहास को कैसे समझते हैं। उनके इस विकास में मीडिया की क्या भूमिका होती है और वर्तमान विवाद में बचपन के इस महत्त्वपूर्ण पहलू को नजरअंदाज क्यों किया गया। अगर हम समकालीन भारतीय समाज की बात करें तो वह इतिहास जो बच्चे पढ़ते हैं या फिर किसी अन्य माध्यम से जानने की कोशिश करते हैं, इसके बारे में जानने के लिए हमें उन माध्यमों पर एक नजर दौड़ानी होगी जिनकी मार्फत बच्चे मानवीय सभ्यता के इतिहास से परिचित होते हैं।

इतिहास के बच्चों का साबका सबसे ज़्यादा स्कूली पाठ्यक्रम की शक्ल में पड़ता है। इसके अलावा ये बच्चे तरह–तरह की कहानियों और लुग्दी साहित्य के जरिये इतिहास के कई अन्य पहलुओं से परिचित होते हैं। जो बच्चे स्कूल नहीं जाते या फिर पढ़ना–लिखना नहीं सीख पाते हैं उनके लिए इतिहास जानने का मुख्य स्रोत वह बातचीत होती है जो उनके समक्ष या फिर उनसे की जाती है। गांव के बुजुर्ग अक्सर अनुभवों में इतिहास की पूरी एक करवट को समेटे हुए रहते हैं। यह अनुभव गाहे–बगाहे उनकी बातचीत में खूब झलकता है। ऐसी बातचीत से बच्चे बड़ी तेजी के साथ सीखते हैं। कई बार ऐसी फिल्में बनायी जाती हैं जो बच्चों को इतिहास के कई आयामों से परिचित कराती हैं। 'लगान' जैसी तकनीकी तौर पर संवेदनशील फिल्में बनती हैं तो 'गदर' और 'अशोका' जैसी व्यावसायिक फिल्में भी। मध्य वर्ग के बच्चों द्वारा व्यापक पैमाने पर दूरदर्शन के कार्यक्रम देखे जाते हैं। इन कार्यक्रमों में अक्सर कई सीरियल (दृश्यान्तर) खास तौर से ऐतिहासिक घटनाक्रम के मद्देनजर बनाये जाते हैं। जैसे 'भारत एक खोज' या फिर 'चाणक्य' जैसे सीरियल दूरदर्शन पर दिखाये गये। इन सबके अलावा स्वतंत्रता–दिवस, गणतंत्र–दिवस, गांधी–जयंती, बाल–दिवस, मुहर्रम, रामलीला इत्यादि अवसरों पर किये जाने वाले सामूहिक सामाजिक अनुष्ठान भी इन बच्चों के दिलो–दिमाग में इतिहास की एक रूपरेखा तैयार करते हैं। बच्चे स्वभावतः ऐसी इमारतों और खंडहरों में विशेष रुचि रखते हैं

जो किसी ऐतिहासिक कालखंड की गवाही देते हैं। बच्चे अपने इर्द–गिर्द बनी संरचनाओं से भी कहीं न कहीं इतिहास को समझने की कोशिश करते हैं। संग्रहालय जैसी जगहों से भी बच्चे इतिहास के संदर्भ में काफी जानकारी हासिल करते हैं। इसमें से किसी भी स्रोत की छानबीन करें तो पता चलता है कि वह इतिहास जो बच्चे किसी भी माध्यम से सीखते हैं दरअसल वह वयस्कों द्वारा तैयार किया गया, वयस्कों का ही इतिहास होता है। ये स्रोत बच्चों के सामने लगातार 'बड़ा होकर कुछ कर दिखाने' का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

इतिहास को लेकर बच्चों की चेतना के एक बड़े हिस्से को ख़त्म करने की पूरी प्रक्रिया को समझने के लिए हम यहां राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा तैयार की गई कक्षा छः, सात और आठ की पाठ्यपुस्तकों (थापर, रोमीला : 1988, 1988क; देव, अर्जुन : 1988) पर एक नज़र डालेंगे। कक्षा छः से आठ तक के बच्चे औसतन बारह से चौदह वर्ष आयु वर्ग समूह के होते हैं।

परिषद् द्वारा तय की गयी किताबों में से कक्षा छः के बच्चों को प्राचीन भारत, कक्षा सात के बच्चों को मध्यकालीन भारत और कक्षा आठ के बच्चों को आधुनिक भारत पढ़ना होता है। यह विभाजन किस आधार पर किया गया है– यह तय नहीं है। मनोवैज्ञानिक आधार बताते हैं कि जितने पीछे के कालखंड की बातें की जायें उतने ही परिपक्व मस्तिष्क की जरूरत होती है (सिग्लर रॉबर्ट एस. चिल्ड्रेन थिंकिंग, 1991)। इसलिए यह किसी भी तरह से सही नहीं लगता कि बच्चों को पहले पुरानी बातें पढ़ायी जायें तब अपेक्षाकृत नई। यहां बच्चे पहले प्राचीन भारत के बारे में पढ़ते हैं, उसके बाद मध्यकालीन भारत और अन्त में आधुनिक भारत। यह निर्धारण अपने आप में यह बताता है कि बच्चों के मामले में हम इतिहास की समझ बनाने को लेकर कोई विचारवान नीति नहीं रखते।

इतिहास की पाठ्यपुस्तकों के मामले में यशपाल समिति का यह अवलोकन सही ही लगता है कि "विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम की व्यवस्था में बाल केन्द्रित दृष्टिकोण की अनुपस्थिति अखरती है।" यह समिति इतिहास की पाठ्यपुस्तकों के मामले में अलग से चर्चा करती है। "इतिहास की पाठ्यपुस्तकों की लेखन शैली में आए अनेक परिवर्तनों के बावजूद, इतिहास का पाठ्यक्रम बच्चों के लिए असंतोषप्रद और निरर्थक बना हुआ है। इससे इतिहास शिक्षण का उद्देश्य पूरा नहीं होता क्योंकि बच्चे इतिहास को अपनी

विरासत से जोड़ने में असमर्थ रहे हैं। अपेक्षा यह की जाती है कि बच्चे कक्षा छः से आठ के दौरान प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के संपूर्ण इतिहास का अपने मस्तिष्क में चित्र बना पायेंगे। चूंकि इन कक्षाओं की पाठ्यपुस्तकों में विस्तृत काल अवधि के इतिहास का वर्णन करना होता है इसलिए इनमें विषयवस्तु की सघनता अधिक होती है जिसका मतलब है कि ऐतिहासिक काल बहुत संकुचित हो जाता है। उदाहरणतः कुछ वाक्यों में ही अनेक वर्षों के इतिहास का वर्णन कर दिया जाता है। यह संक्षिप्त शैली बच्चे को 'जैसा भी वर्णन किया है उसे वैसा ही स्वीकार' करने के लिए बाध्य करती है। पाठ्यपुस्तकों में विस्तारपूर्वक विषय सांमग्री को प्रस्तुत नहीं किया जाता ताकि वह बच्चा तर्क अथवा चिंतन के लिए उसे आधार बना सके बल्कि उससे अपेक्षा की जाती है कि वह तीन वर्षों में भारत के 'सम्पूर्ण' इतिहास को एक बड़े आकार वाली पाठ्यपुस्तक से पढ़ लेगा। इस प्रकार की पाठ्यपुस्तक बच्चे को (और शिक्षक को) अध्ययन करने अथवा कोई दलील तैयार करने में समय नष्ट करने के बजाय यथासंभव 'याद करने' के लिए बाध्य करती है'' (शिक्षा बिना बोझ के राष्ट्रीय सरकार समिति की रिपोर्ट, 1993)। समिति आगे कहती है कि यह समस्या केवल राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की पुस्तकों में नहीं है बल्कि यह राज्यों की पाठ्यपुस्तकों में भी वैसी ही प्रचण्डता के साथ विद्यमान है।

कक्षा छः की पुस्तक के पहले अध्याय में इतिहास जानने के तरीकों पर बात की गयी है। लेकिन इतिहास जानने के लिए जिन स्रोतों की बात की गयी है उनमें बहुधा हमारे बच्चों की पहुंच के बाहर होते हैं। मसलन हस्तलिखित पोथियां, अभिलेख, शिलाखंड, स्तंभों, प्रस्तर–फलकों, भवनों और धातु–पत्रों के माध्यम से इतिहास की जानकारी प्राप्त करने की बात कही गयी है। जब कोई छोटा बच्चा इतिहास जानने की कोशिश करता है तो वह उन तथ्यों को नहीं चुनता, जिनका चुनाव एक वयस्क मस्तिष्क करता है। उसके लिए तथ्य ऐसे होने चाहिए जो उसके मस्तिष्क के हिसाब से सुग्राह्य हों। जाहिर है कि बच्चों को हम पुनः 'बड़े' की दुनिया में समय से पहले ढकेल रहे हैं।

कक्षा छः की इस पुस्तक में कुल नौ अध्याय हैं। इन अध्यायों में जिस जीवनशैली की चर्चा की गयी है उसे हम मोटे तौर पर वयस्क समाज की जीवनशैली कह सकते हैं। आदिम मानव की चर्चा करते हुए इस पुस्तक में कहा गया है कि 'अवकाश का समय खेल और मनोरंजन में व्यतीत होता

था।' यहां गुंजाइश बनती है कि हम उस दौर के बच्चों द्वारा खेले जाने वाले खेल के बारे में बात करें। एक सूचना दी गयी है कि बच्चे गोलियां खेलते थे। लड़कियों के लिए गुड़ियां थीं। 'वैदिक युग का जीवन' में एक अन्य सूचना है कि लड़कों के साथ–साथ कुछ लड़कियां भी पढ़ती थीं। अध्याय चार से अध्याय आठ तक 66 पन्नों में चौदह सौ वर्षों के इतिहास को समेट दिया गया है तथा यह पन्ने उस समय के 'प्रभावी वयस्क पुरुषों' की जीवनशैली से भरे पड़े हैं। अंतिम अध्याय भारत और विश्व के सम्बन्धों की चर्चा करते हैं। कहने की जरूरत नहीं होनी चाहिये कि यहां के 'सम्बन्धों' के आधार में वयस्क समाज के हितों को ही दिखाया गया है।

कक्षा सात की पुस्तक की शुरुआत में एक चित्र दिखाया गया है जिसमें राष्ट्रीय विकास की रुकावटों के दो पक्ष बताये गये हैं। पहला आर्थिक घटक और दूसरा सामाजिक घटक। कुल मिलाकर दस उप–घटक हैं लेकिन बच्चों की स्थिति फिर नदारद है। यह पुस्तक भी अभिजात्य वयस्क पुरुषों की जीवनशैली के इर्द–गिर्द लिखी गयी है। पहला अध्याय बड़ी तेजी के साथ भारत और संसार की 'तत्कालीन स्थिति' का वर्णन करता है। इसमें यूरोपीय अंधकार युग और धर्म युद्ध की बात विशेष तौर पर की गयी है। अध्याय दो में 800 ई. से 1200 ई. तक दक्षिण भारत की बात की गयी है। इस दौर की शिक्षा की बात करते हुए कहा गया है कि विद्यार्थी प्रायः ब्राह्मण होते थे, उनकी उम्र के बारे में कोई चर्चा नहीं की गयी है। अध्याय तीन में 800 ई. से 1200 ई. तक के उत्तर भारत की बात की गयी है– ''मंदिरों में स्कूल लगवाये, वहां ऊंची जाति के बच्चों को शिक्षा दी जाती थी।'' इसके बाद का अध्याय 'दिल्ली के सुल्तान' में सुल्तानों के बारे में (1200 ई. से 1290 ई. तक) संक्षिप्त जानकारी है।

अध्याय पांच विशेष तौर पर 'जनता का जीवन' की बात करता है। यहां जनता के जीवन में है अभिजात्य, नगर निवासी, व्यापारी, किसान, धर्म, सूफी भक्ति आन्दोलन, भाषा और साहित्य, वास्तुकला, चित्रकला और संगीत। यहां यह गौरतलब है कि जीवन के इन तमाम अवयवों को चुनने में 'बाल दृष्टि' का नितांत अभाव है। अध्याय छः में मुगल और यूरोपवासियों के भारत में आगमन के बारे में चर्चा की गयी है। इसमें यूरोपीय पुनर्जागरण (रिनेसां) इत्यादि की भी बात की गयी है। इस सारी बातों को पैंतीस पृष्ठों में समेट दिया गया है। अध्याय का शीर्षक है 'अकबर'। इस अध्याय का पहला पैरा एक बच्चे के बादशाह बनने के मामले पर लिखा गया है– ''जब

अकबर को बादशाह घोषित किया गया तब वह केवल तेरह वर्ष का था। इस छोटी अवस्था के बालक के लिए यह एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था''। इस समय यहां ऐसा कोई जिक्र नहीं मिलता है कि बच्चे को बादशाह बनने में क्या दिक्कतें आयी थीं। इसके बाद आठवें अध्याय में यह बताया गया है कि दरबार का जीवन बड़ा विलासितापूर्ण था। इस अध्याय में बताया गया है कि सूरदास आगरे का एक नेत्रहीन कवि था जिसका लिखा हुआ 'सूरसागर' आज तक पढ़ा जाता है। लेकिन उसके साहित्य में बाल–चरित्र (कृष्ण) की चर्चा नहीं की गयी है। अंतिम अध्याय में मुगल साम्राज्य के पतन की चर्चा की गयी है।

कक्षा आठ की पाठ्यपुस्तक आधुनिक भारत के बारे में जानकारी देती है। इसका पहला अध्याय, नवजागरण, पूंजीवाद के उदय और औद्योगिक क्रांति की बात करता है। अगर विश्व इतिहास के बारे में जानना जरूरी है तो सवाल यह है कि वहां किसी अफ्रीकी या एशिया के अन्य देशों की चर्चा क्यों नहीं है? इस अध्याय में अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांति की चर्चा है, बाद में साम्राज्यवाद की और अन्त में रूसी क्रांति की। समाजवाद की परिभाषा अर्थ तंत्र के इर्द–गिर्द सिमट कर रह गयी है। दूसरे अध्याय में अठारहवीं सदी के भारत के बारे में बताया गया है। इस अध्याय में सत्ता पर काबिज अलग–अलग वर्गों की चर्चा की गयी है। यह भी बताया गया है कि किस प्रकार राज्यों के लिए लड़ाईयां हुईं। अध्याय तीन में ब्रिटिश शासन के विस्तार की बातें विस्तारपूर्वक कही गयी हैं। इसमें एक और चित्र के साथ सूचना दी गयी है कि ''टीपू सुल्तान की हार के बाद सात वर्ष की आयु में कृष्ण राय वड्यार को मैसूर का शासक बनाया गया''। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध अलग–अलग हलकों में हो रहे संघर्ष की बातें भी कही गयी हैं। अध्याय चार में ब्रिटिश शासन के प्रशासनिक ढांचों की चर्चा की गयी है। गरीबी के कारण लोग अपने बच्चों को बेचने के लिए मजबूर होते थे। इस अध्याय के अन्त में आधुनिक शिक्षा की चर्चा की गयी है।

अध्याय पांच और अध्याय छः 1857 के विद्रोह के ताने–बाने के बीच की प्रमुख घटनाओं पर आधारित हैं। अध्याय सात में तत्कालीन आर्थिक जीवन में हो रहे परिवर्तन की बात की गयी है, अकाल का जिक्र आया पर उसमें मरने वाले बच्चों का नहीं। अध्याय आठ धार्मिक और सुधार आन्दोलनों की जानकारी देता है। इस अध्याय में देश में अंग्रेजी शिक्षा तंत्र के विकास की बात कही गयी है। साथ ही 1903 में गोपालकृष्ण गोखले के हवाले से

इस बात की चर्चा की गयी है कि छः साल से दस साल तक के बच्चों के लिए अनिवार्य और मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। अध्याय नौ भारतीय राष्ट्रवाद के उदय की कहानी के मद्देनजर कई प्रकार के वयस्क कर्मकांडों को दोहरा रहा है। अध्याय दस स्वराज के संघर्ष और इस दरमियान हुए आन्दोलनों की चर्चा करता है। अध्याय ग्यारह में राष्ट्रीय आन्दोलन (1923–1939) का जिक्र है। इस अध्याय की एक तस्वीर में सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान पुणे में छोटे बच्चों को जुलूस निकालने की तैयारी करते हुए दिखाया गया है। अन्तिम अध्याय में स्वतंत्र भारत की चर्चा की गयी है। इसमें कहा गया है कि मरने वालों में अनेक बच्चे और वृद्ध महिलाएं भी थीं। गोहपुर (असम) में 13 साल की कनक लता बरुआ को, पटना (बिहार) में सात तरुण विद्यार्थियों को और अन्य सैकड़ों को गोलियां मारकर मौत के घाट उतार दिया गया। इस अध्याय में भारत छोड़ो आन्दोलन के एक शहीद बालक, श्रीश कुमार, की तस्वीर भी दिखाई गयी है। यहां यह भी बताया गया है कि 'आजाद हिन्द फौज के अफसरों पर चलाये गये मुकद्दमे के खिलाफ प्रदर्शन आयोजित करने में विद्यार्थियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की'।

कुल मिलाकर हम देखते हैं कि कक्षा छः, सात और आठ की इन पाठ्यपुस्तकों में बच्चों की जीवनशैली पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। जहां बच्चों की बात आयी, वहां बहुधा शिक्षा के संदर्भ में। इस प्रकार के इतिहास को पढ़ाकर कहीं न कहीं हम बच्चों के सामने एक 'निर्धारित आदर्श' रख रहे होते हैं। बच्चों को हम जो इतिहास पढ़ा रहे हैं वह उनके सामने भविष्य की रूपरेखा बेशक तय कर दे (उसकी भी गुंजाइश कम है), लेकिन यह इतिहास उनकी आज की जीवनशैली पर कोई प्रभाव नहीं डालता है। बच्चों को कैसा इतिहास पढ़ाया जाये – यह तय करना एक बड़ा चुनौती भरा कार्य है क्योंकि इसके लिये हमें बच्चों को उनके स्तर पर जाकर समझना होगा। एक अन्य सवाल यह भी है कि हम जिन उपकरणों और औजारों के जरिये 'इतिहास' की जानकारी हासिल करते हैं, उनसे क्या हम उस इतिहास को भी जान पायेंगे जिसकी आवश्यकता बच्चों को है? बच्चों के लिए इतिहास तैयार करने के क्रम में न सिर्फ हमें अपनी चेतना में बदलाव लाना होगा, बल्कि अपने उपकरण और भाषा को भी तराशना होगा।

बच्चों को क्या पढ़ाया जाता है और क्या याद रखने के लिए मजबूर किया जाता है– यह सब कुछ एक बड़ी राजनीति का हिस्सा है। ऊपर की

चर्चा में हमने देखा कि 2000 से पहले की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों का विकास भी शिक्षण की दृष्टि से नहीं बल्कि वयस्कवादी राजनीति से ही प्रेरित था। बच्चों के लिए उनका कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि वे बच्चों की जीवनशैली की उपेक्षा करती हैं। वर्तमान इतिहास को लेकर चली इस बहस का सबसे निराशाजनक पक्ष यह रहा कि मीडिया, विवाद के राजनैतिक पहलू पर ही टिका रहा। उसने आगे बढ़कर इस पूरी बहस को कोई परिवर्तनकारी आधार (शिक्षण शास्त्रीय) नहीं प्रदान किया। मीडिया, इतिहास के सवाल को स्मृति के सवाल से बाहर नहीं ला सका। कम से कम वैचारिक स्तर इस सवाल को पर कहीं भी उभार नहीं मिला कि इतिहास का वर्तमान विवाद एक बड़े शैक्षणिक पहलू को भी समेटे हुए है। जिसका सरोकार बच्चों के वर्तमान से है।

'इतिहास का विवाद' दरअसल संज्ञात्मक दृष्टि से एक विरोधाभास खड़ा कर रहा था क्योंकि यह इतिहास का विवाद नहीं था बल्कि इसमें बच्चों को यांत्रिकीकृत करने का मामला था। इस मामले को एक सोची–समझी राजनैतिक संज्ञा दी गयी थी। दो अलग–अलग पक्ष अपनी सत्ता संरचना की आवश्यकताओं के मुताबिक़ बच्चों को इतिहास पढ़ाये जाने की बात कर रहे थे। उत्तर–औपनिवेशिक भारत के नेताओं ने बच्चों को राष्ट्र निर्माण के कच्चे माल की तरह देखा। हर 'शिल्पकार' ने इस कच्चे माल का उपयोग अपने इरादों के तहत करना चाहा। यह सब कुछ वर्चस्व की उस बड़ी लड़ाई की तैयारी थी जो भविष्य के हिस्से में एक कर्ज की तरह बची हुई है। बच्चे उस लड़ाई के भावी सैनिक और यह इतिहास उनके लिए एक फरमान, एक आदर्श – ताकि सनद रहे।

उपसंहार

उत्तर–लोकतंत्र की ओर

मीडिया की चर्चा तब तक बेमानी है जब तक हम भविष्य की अपनी भूमिकाओं के प्रति आश्वस्त नहीं हो जाते। भविष्य की रूपरेखा का निर्धारण हमें अपने तमाम निराशावादी पूर्वाग्रहों को त्याग कर करना पड़ेगा। मानव को गुलाम के रूप में रखने से लेकर लोकतंत्र और मानवाधिकारों की घोषणाओं तक का संघर्षमय सफर इसका गवाह रहा है कि मानव का सामूहिक संघर्ष इस सभ्यता को और ज्यादा मानवीय बनाते जाने को लेकर चलता रहेगा। सभ्यता के उद्भव से ही यह मानव समाज और भी ज्यादा मानवीय होने की कोशिश करता रहा है और उसे इसमें सफलतायें भी मिली हैं।

बीसवीं सदी का आखिरी दशक, जिसकी इस अध्ययन में बार–बार चर्चा की गयी है, न सिर्फ भारत के लिए बल्कि विश्व राजनीति के लिए भी कई मायनों में विशिष्ट करवट समेटे हुए था। द्वितीय विश्वयुद्ध में घनघोर पराजय के बाद जापान के नये ढांचे ने यह संकेत देना शुरू किया कि युद्ध की पारम्परिक परिभाषायें व समझ बदलेगी। इस 'समझ' पर दुनिया के विकसित देशों ने तो काम करना शुरू कर ही दिया, साथ ही विकासशील देश के विकसित लोगों ने भी हाथ आजमाना शुरू किया। न सिर्फ युद्ध की परिभाषायें बदलीं बल्कि वर्चस्व की प्रकृति में भी भारी बदलाव देखने को मिला – युद्ध के नये औजारों का विकास हुआ। जनसंचार के मंच युद्धभूमि में बदलते चले गये। यह सब कुछ एकतरफा तरीके से नहीं चला। इसी दौर में मानवीय उत्थान की भी कोशिशें लगातार होती रहीं। बच्चों के अधिकारों की बातें हुईं। महिलाओं के अधिकार को लेकर विश्व स्तर का सम्मेलन

बीजिंग में सम्पन्न हुआ। नस्ल–भेद को लेकर डरबन में असरकारी बहस हुई। दुनिया भर में हाशिये के लोगों के अधिकार को लेकर जबरदस्त बहस चली। 'आजाद' भारत भी इससे अछूता नहीं रहा, हिन्दी पट्टी का दलित और महिला साहित्य इसकी हालिया बानगी है।

इस बहस को समेटने से पहले चंद–एक बातों का जिक्र जरूरी लगता है। इस किताब की पृष्ठभूमि में 'आजाद' हो चुका भारतीय समाज है। अन्य तमाम समाजों की तरह भारतीय समाज की भी कोई एकीकृत पहचान नहीं है। बहुलता इस समाज की विशिष्ट सांस्कृतिक प्रवृत्ति रही है। इस समाज में भी सुविधाओं और आर्थिक संसाधनों का असमान बंटवारा रहा है। इस लिहाजन असमानता इस समाज के लिए कोई नयी चीज नहीं है। उपनिवेश भारत से आजाद भारत के बनने की प्रक्रिया में इस देश ने नये मानवीय मूल्यों को रचा था। इन मूल्यों के संदर्भ में हमने कुछ उद्देश्य तय किये। इन्हें पाने के लिए एक ढांचा तैयार किया, जिसे आज हम भारतीय संविधान के नाम से जानते हैं। ऐतिहासिक विश्लेषण बताता है कि यह संविधान प्रगतिशील मूल्यों और रूढ़िवादी स्वार्थों के बीच एक समझौता था। उम्मीद यह थी धीरे–धीरे हम संविधान में से उन चीजों को निकाल पायेंगे जो रूढ़िवादी स्वार्थों को पूरा करने का विद्यायी अधिकार देते रहे हैं।

20वीं सदी के उत्तरार्ध में प्रगतिशील मूल्यों के लिए भारतीय समाज का एक पूरा तबका संघर्षरत रहा जिसके कई ठोस प्रमाण दिखते हैं। संविधान का पुनर्पाठ किया गया, इसके पुराने अनुच्छेदों के नये अर्थ निकाले गये और मानव को एक नयी गरिमा दी गई। संविधान की प्रस्तावना में 'समाजवाद' और 'धर्म–निरपेक्षता' को जोड़ा गया। इन सबके बरअक्स एक दूसरी राजनीति भी चल रही थी। हम घोषणा समाजवाद की कर रहे थे और संरचनायें पूंजीवादी ढर्रे पर तैयार कर रहे थे। इस दोहरे चरित्र को बनाये रखने के लिए एक अघोषित अभियान चलाया गया। इस अभियान को सिर्फ सत्ताशाली व पूंजीपति वर्ग नहीं चला सकते थे। इसमें 'महान मध्यवर्ग' के सहयोग की जरूरत थी। यह मध्यवर्ग अपने राजनैतिक और सांस्कृतिक कारणों से खुलकर पूंजीपति वर्ग के साथ नहीं आ सकता था। उसकी इस झिझक को तोड़ने के लिए सबसे पहले 'समता' के मूल्यों को धराशायी करना था। यह कोशिश 'आजादी' के बाद से ही शुरू हो गई थी लेकिन इसका प्रकटीकरण काफी बाद में हुआ। इस काम में मीडिया, उससे जुड़ी अन्य संस्थाओं और 'बुद्धिजीवियों' ने एक अहम भूमिका निभाई।

भारतीय मीडिया दोतरफा दबावों के बीच पनपा। एक ओर बड़े प्रेस और बाद में चैनल के पूंजीपति मालिक थे तो दूसरी ओर 'सम्प्रेषण योग्य चेतना' को नियंत्रित करने वाला सामाजिक व सांस्कृतिक जड़त्व। जब पूंजीपति मीडिया की भूमिका को विशिष्ट उद्देश्यों को पूरा करने के साधन के रूप में विकसित कर रहे थे तभी दूसरी ओर ब्राह्मणवादी 'ज्ञान संरचना' और 'जीवनशैली' मीडियाकर्मियों के मानस का सृजन कर रही थी। पूंजीवाद और ब्राह्मणवाद के इस गठजोड को अंग्रेजी ने एक वृहत्त सत्तायी स्वरूप दिया। ब्राह्मणवाद का केन्द्रीय तर्क जाति विशेष को उसकी ज्ञान–संरचना, कार्य–प्रकृति और जीवनशैली के आधार पर श्रेष्ठ बनाने का रहा है, यही आधार अंग्रेजी का भी बना। 'आजाद' भारत में 'अंग्रेजी' का जिस तरीके से प्रवेश कराया गया उसमें ही यह निहित था कि यह सत्ता–संचालन और उसके जरिये नियंत्रण की भाषा बनेगी। देशज भाषाओं में काम करने वाली मीडिया और अंग्रेजी में काम करने वाली मीडिया का सम्बन्ध भी इसी तर्कशास्त्र से निर्धारित हुआ। प्रसार संख्या में हिन्दी के अखबारों की तुलना में अंग्रेजी के अखबार की स्थिति हमेशा से ही काफी पीछे रही है, लेकिन बाजार के विज्ञापनों से लेकर सत्ता की नीतियों तक में अंग्रेजी अखबारों का ही बोलबाला है। 'खबरों' को निर्धारित करने की प्रक्रिया में अंग्रेजी अखबारों की प्रमुखता ने अभिव्यंक्ति के सार्वजनिक मंचों को एक नव–ब्राह्मणवादी स्वरूप दिया जहां अनुष्ठानों और पवित्रता का हवाला देकर पूंजीवाद का महायज्ञ शुरू हुआ। जाहिर है कि इस यज्ञ के नियमों में यह शामिल होना है कि यज्ञस्थल पर 'शूद्रों' का प्रवेश बंद कर दिया जाये।

पूंजीपतियों के नियंत्रण और ब्राह्मणवादी कुलीनता के तर्कशास्त्र से चलने वाली मीडिया ने 'फायदे' का तर्क सामने रखा और वह सब कुछ अभिव्यक्त करने से कतराती रही जिसका सरोकार हाशिये के लोगों और उनके जीवन–संघर्षों से था। धीरे–धीरे मीडिया का यह व्यवहार उसकी प्रकृति बन गई। यह लोकतंत्रिक समाज के लिए एक खतरनाक स्थिति है। अगर एक बड़ा तबका अपने को अभिव्यक्त नहीं कर पायेगा तो वह 'दूसरे' उपायों की ओर बढ़ेगा।

यह अभी सिर्फ एक आरम्भिक परिकल्पना है जिस पर सोचे जाने और काम किये जाने की जरूरत है कि मीडिया पर जैसे–जैसे सत्तायी संरचनाओं, पूंजी और 'प्रयोजित बाजार' का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है, दुनिया में उसी रफ्तार से आतंकवाद भी बढ़ता जा रहा है। मीडिया की असफलता और नये

शब्द व विचारों की स्वीकृति में कोताही अभिव्यक्ति के 'अन्य' रास्तों की ओर बढ़ा रही है जैसे कई वर्गों द्वारा आतंक का रास्ता चुनना। पिछली दो सदी में दुनिया भर की राजनैतिक व्यवस्थाओं के लिए 'बहुमत' एक प्रिय नारा बन गया है, लेकिन बहुमत और सर्वमत के बीच एक फासला होता है। लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं की स्थापना के समय यह उम्मीद थी कि इस फासले को मीडिया और ऐसी अन्य संस्थायें पाटेंगी। अगर मीडिया इस दूरी को नहीं पाटती तो दूसरी चीजें उस जगह को भरने की कोशिश करेंगी। हाशिये के लोगों की जो अभिव्यक्तियां उभर रही हैं, उनसे इसके संकेत मिलने शुरू हुए हैं कि जनतंत्र 'बहुमत' से 'सर्वमत' की ओर बढ़ने की कोशिश कर रहा है। इस तरक्की को मानवीय समाज के ऐतिहासिक संघर्ष की विजय माना जाना चाहिए। यह बदलाव अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण की नयी व्यवस्थाओं और नये साधनों की मांग कर रहा है।

हम एक उत्तर–लोकतांत्रिक समाज की ओर बढ़ रहे हैं। न तो विश्व के एकध्रुवीय होने से, मनुष्य के और ज्यादा मानवीय बनने की प्रक्रिया रुकने जा रही है, न ही बाजार का प्रभुत्व किसी भी तरह से इसका विरोध कर पायेगा। लेकिन इस अति उत्साही वक्तव्य के साथ एक धैर्य और समझदारी भी जरूरी है जो किसी भी संक्रमणकालीन समाज में होनी चाहिए। चाहे गुलामों का रोम के विरूद्ध 'पहला' विद्रोह हो या फिर राजनैतिक उपनिवेशों को 'आखिरी' तौर पर समाप्त करने का प्रयास, प्रत्येक संक्रमणकालीन समाज यह मांग करता रहा है कि वह उन प्रक्रियाओं से अलग हट कर अपनी दृष्टि स्थापित करे जिनमें वह रात–दिन अपने व्यवहार को संपादित करता है। हम इस उम्मीद के साथ आज की तारीख में इस तर्क को समेटना चाहेंगे कि 'प्रगट करने योग्य' (चॉमस्की : 2006) की सीमाओं में विस्तार होगा, ताकि 'स्थापित' हो चुकी शब्दावलियों और समझ के बरअक्स नयी शब्दावलियां गढ़ी जा सकें। ये नयी शब्दावलियां ही सदियों से स्थापित महाअख्यानों के लिए चुनौतियां प्रस्तुत करेंगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आउटवेटी, विल्यिम व बोट्टोमोरे, टी. (सम्पादन) (1993) : द ब्लैकवेल डिक्शनरी ऑफ सोशल थॉट (ब्लैकवेल पब्लिशर : आक्सफोर्ड)

एवांलास, बीट्रीस (1999) : गरीब बच्चों की शिक्षा (ग्रंथशिल्पी : दिल्ली)

कार, ई.एच. (1961) : इतिहास क्या है (मैकमिलन इंडिया लिमिटेड : दिल्ली)

कॉलीगऊड, जी.सी. (1946) : आडीया ऑफ हिस्ट्री (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : आक्सफोर्ड)

कुमार, कृष्ण (1998) : शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व (ग्रंथशिल्पी : दिल्ली)

कुमार, कृष्ण (1978/1993) : राज, समाज और शिक्षा (राजकमल : दिल्ली)

चॉम्स्की, नोम (2006) : जनमाध्यमों का मायालोक, लोकतांत्रिक समाजों में विचारों पर नियंत्रण (ग्रंथशिल्पी : दिल्ली)

थापर, रोमीला (1988) : प्राचीन भारत (कक्षा छः की पाठ्यपुस्तक) (एन.सी. ई.आर.टी. : नई दिल्ली)

थापर, रोमीला (1988क) : मध्यकालीन भारत (सातवीं कक्षा के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक) (एन.सी.ई.आर.टी : नई दिल्ली)

रोमिला थापर व अन्य (1991) : इतिहास की पुनर्व्याख्या (राजकमल प्रकाशन : दिल्ली)

देरिदा, जॉक (1984) : डिक्स्ट्रक्शन एण्ड द अदर (मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस : मैनचेस्टर)

देव, अर्जुन (1988) : आधुनिक भारत (कक्षा आठ की इतिहास की पाठ्यपुस्तक) (एन.सी.ई.आर.टी. : नई दिल्ली)

न्यूगी, थ्योंगो वा (1999) : औपनिवेशक मानसिकता से मुक्ति (ग्रंथशिल्पी :

दिल्ली)

पोर्टर, कार्लोन (1990) : आर वी वीईंग हिस्टोरिकल ऐट, (डेविड कैरोल के सम्पादन द स्टेट ऑफ थ्योरी में) (स्टेनफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस : स्टेनफोर्ड)

प्रपन्न, राघवेन्द्र (2001) : इतिहास से प्रायोजित युद्ध (16 नवम्बर 2001 को लिखा गया सम्पादकीय लेख) जनसत्ता, नोएडा

फूको, एम. (1998) : टेक्नोलोजी ऑफ द सेल्फ (मरसिन, ऊरमैन एण्ड हट्टन : लंदन)

वीनर, मायरन (1997) : भारत में बच्चे और राज्य नीति, तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में बाल मजदूरी और शिक्षा नीति (भारतीय सामाजिक संस्थान एण्ड यूनिटी ट्रस्ट : दिल्ली)

भारत सरकार (1993) : शिक्षा बिना बोझ के, राष्ट्रीय शिक्षा सलाहकार समिति की रिपोर्ट (एन.सी.ई.आर.टी : नई दिल्ली)

मार्क्स, कार्ल व एंगेल्स, फेडरिक (1848/2000) : कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र (ग्रंथशिल्पी : दिल्ली)

सिग्लर, रार्बट एस. (1991) : चिल्ड्रेन थिंकिंग (प्रैविस हॉल : न्यु जर्सी)

शाहिद आमीन व ज्ञानेन्द्र पाण्डेय (1997) : निम्नवर्गीय इतिहास, इतिहास लेखन की अनखोजी पगडंडियां, हंस (अक्टूबर 1997), दिल्ली

शॉर्क, कार्ल ई. (1998) : थिंकिंग विथ हिस्ट्री, एक्सप्लेरेशन इन द पैसेज टू मॉर्डनीजम (प्रिस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस : न्यू–जर्सी)

स्टेनफोर्ड, मीशेल (1994) : ए कम्पेनियन टू दी स्टॅडीज ऑफ हिस्ट्री (ब्लैकवेल : यू.एस.ए.)

सरकार, सुमित (1998) : आधुनिक भारत (राजकमल प्रकाशन : दिल्ली)

हबीब, इरफान (1999) : भारतीय इतिहास की प्रमुख व्याख्याएं (ग्रंथशिल्पी : दिल्ली)

हॉन्ट, लॉन (1990) : हिस्ट्री वियांड सोशल थ्योरी (डेविड कैरोल के सम्पादन द स्टेट ऑफ थ्योरी में) (स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : स्टेनफोर्ड)

हॉब्सवाम, ई. (1995) : द एज ऑफ एक्सर्टीम : द शॉर्ट टवेन्टीअथ सेन्चुरी (पाईनीयो : न्यूयार्क)

हेनरी, रेलीज गॉस (1962) : हिस्ट्री एण्ड इन्डिविजुअल (हाल्ट, राईनहर्ड एण्ड विस्टन : न्यूयार्क)

अजय कुमार सिंह

जन्म : 1971

शिक्षा : ग्राम तरैथा, बिहार से प्रारम्भिक शिक्षा, मगध विश्वविद्यालय से गणित, दिल्ली विश्व–विद्यालय से शिक्षाशास्त्र व विधिशास्त्र और जामिया मिलिया इस्लामिया से जनसंचार माध्यमों का अध्ययन। विभिन्न राष्ट्रीय दैनिक–पत्रों, पत्रिकाओं व जर्नल में नियमित लेखन।

रंगमंच पर अनेक प्रस्तुतियों का निर्देशन तथा अभिनय। विभिन्न शिक्षा संस्थाओं और स्वैच्छिक संगठनों में शिक्षा सलाहकार के रूप में कार्य। वर्ष 1999 में हिन्दी अकादमी दिल्ली, द्वारा एकांकी 'मुर्गे की जान जाये नवाबों का खेल' पर पुरस्कार, वर्ष 2001 में इस पुस्तक पर सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार का प्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द पुरस्कार, वर्ष 2003 में 'संसद, सम्प्रभुता और उत्तर–लोकतंत्र' की पाण्डुलिपि पर संसदीय कार्य मंत्रालय भारत सरकार का संसदीय पुस्तक पुरस्कार।

सम्प्रति : दिल्ली विश्वविद्यालय में शोधरत व अध्यापन।

आधार प्रकाशन प्रा. लि.
एस.सी.एफ. 267, सेक्टर–16
पंचकूला–134 113 (हरियाणा)